आर्यसमाज क्या है ?

(आर्यसमाज के नियमों, सिद्धान्तों, मन्तव्यों और उद्देश्यों का परिचय कराने के लिए और देश-विदेश मे आर्य-समाज का प्रचार करने के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक)

—:०:—

लेखक

श्री नारायण स्वामी जी महाराज

प्रकाशक—

राजपाल ऐंड संज़

आर्य-पुस्तकालय, सरस्वती आश्रम,

अनारकली, लाहौर।

[illegible] बार] मार्च १९४० [मूल्य सात आना

मुद्रक—एस. सी. लखनपाल रमेश प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर

प्रकाशक—म० प्राणनाथ आफ़ राजपाल एण्ड सन्ज़ लाहौर

भूमिका ।

इस छोटी-सी पुस्तक का उद्देश्य यह है कि आर्य-समाज से अपरिचित पुरुषों को आर्यसमाज के नियमों और मोटे मोटे सिद्धान्तों का परिचय दे देवे—आर्यसमाज अथवा वेदों के गूढ़ सिद्धान्तों का ज्ञान तो कुछ काल अनेक पुस्तकों का स्वाध्याय करने ही से हो सकता है । पुस्तक में जिन जिन विषयों का समावेश है उन्हें खोल कर प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है—आर्यसमाज के सिद्धान्तों का स्थान स्थान पर ज्ञानमूलक होना भी बतलाया गया है जिससे यह बात पाठकों की समझ में आ जाय कि वैदिक धर्म की उन्नति, तर्क और विज्ञान की उन्नति के साथ साथ ही होती चली जायगी । वैदिक धर्म ही पृथिवी तल पर ऐसा धर्म है जिसको तर्क और विज्ञान से कुछ भी भय नहीं है अपितु इनकी उन्नति के साथ साथ ही उसकी उन्नति का होना वैदिक धर्म के प्रकार से स्पष्ट है। हिन्दुस्तान से बाहर योरुप, अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के अनेक स्थानों पर, बिना किन्हीं प्रचारकों के पहुँचे हुए ही आर्य्यसमाजों का स्थापित हो जाना, प्रमाणित करता है कि यदि वैदिक-धर्म के भिक्षु वैदिक धर्म की दीक्षा देने के लिये देश से बाहर निकल जहाँ भी जावेंगे, सफलता उनका स्वागत करने के लिए तैयार मिलेगी । उनके निकलने ही में जितनी देर लगेगी, लगेगी । यदि इस तुच्छ लेख से कुछ सज्जनों का ध्यान वैदिक साहित्य के स्वाध्याय की ओर हो गया तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा ।

नारायण-आश्रम, रामगढ़,
भाद्रपद शुक्ला ११,
सं० १९९१

नारायण स्वामी

विषय सूची ।

पहला अध्याय ।

पहला परिच्छेद ।

दूसरा परिच्छेद ।

तीसरा परिच्छेद ।

चौथा परिच्छेद ।

दूसरा अध्याय ।

पहला परिच्छेद ।

दूसरा परिच्छेद ।

तीसरा परिच्छेद ।

चौथा परिच्छेद ।

पांचवाँ परिच्छेद

इति ।

आर्यसमाज क्या है ?

पहला अध्याय ।

पहला परिच्छेद ।

प्रारम्भ

संसार में बड़े-बड़े सुधारकों के जन्म का हेतु तत्कालीन जगत की परिस्थिति हुआ करती है । यदि भारत में शूद्र और पशुओं पर अत्याचार न होते, लाखों पशु वेदों के नाम पर बध करके उनके रक्त और मांस से यज्ञकुण्ड अपवित्र न किये जाते, यदि शूद्रों को सामाजिक अधिकारों से वंचित करके, उनके लिए वेदों की शिक्षा और शुभकर्मों (संस्कारादि) का द्वार बन्द न किया जाता तो सम्भव न था कि गौतम बुद्ध का आविर्भाव होता । इसी प्रकार यदि देश में नास्तिकता का प्रचार न बढ़ता और वेदों के निरादर का भाव उन्नति न कर जाता तो सम्भव न था कि श्रीशंकराचार्य आदि प्रकट होते । स्पष्ट है कि महापुरुष उत्पन्न ही तब होते हैं जब उनकी उत्पत्ति की आवश्यकता देश में पूर्ण रीति से अनुभव होने लगती है । स्वामी दयानन्द का आविर्भाव क्यों हुआ ? इसका स्पष्ट उत्तर तत्कालीन परिस्थिति पर एक दृष्टिपात करने से मिल जाता है ।

तत्कालीन परिस्थिति

तत्कालीन परिस्थिति क्या थी, उसपर एक निगाह डालिये:—

(१) वेदों के नाम से लोग परिचित थे, परन्तु वेद क्या हैं ? उनमें किन किन शिक्षाओं का बयान है, इससे सर्वथा अनभिज्ञ थे। यही हेतु था कि एक पोर्तगाल के पादरी ने एक कल्पित वेद* गढ़कर उसमें ईसाईमत की शिक्षा अंकित की और अनेक लोगों को मद्रास-प्रान्त में वेद के नाम से ईसाई बनाने में सफलता प्राप्त की।

(२) देश में प्राचीन वैदिक सभ्यता का मान घट रहा था और उसका स्थान अनेक उत्पातों का मूल पश्चिमीय सभ्यता ले रही थी।

(३) प्राचीन संस्कृत-साहित्य निकम्मा और वेद गडरियों के गीत समझे जाने लगे थे और देशवासी आँखें बन्द करके अंग्रेज़ी साहित्य पर मोहित होकर पश्चिमी लोगों के पीछे चलने में गौरव मानने लगे थे। भारत के कई प्रान्तों में तो किसी को अथर्व-वेद पढ़ने की बात कहना गाली समझी जाने लगी थी।

(४) जातीय(आर्य) भाषा का पढ़ना फैशन के विरुद्ध था और इसीलिए हिन्दी गंदी कहलाने लगी थी। विदेशी भाषाएँ उनका स्थान ले रही थीं।

* इस पोर्चगीज़ पादरी का नाम रोबर्टोडि नोबल (Robarto deNoble) था और वहाँ के लोगों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से १६०६ ई० में मदुरा में आया था। इस गढ़े हुए वेद का नाम 'यजुर्वेद' था। यह वेद पेरिस के अद्भुतालय से सम्बन्धित पुस्तकालय में अब भी मौजूद है।

(५) बाल-विवाह आदि कुरीतियों के प्रचलित और ब्रह्मचर्य के लोप होने से देशवासियों—विशेष कर हिन्दू-जाति के सदस्यों मे शारीरिक बल का ह्रास हो रहा था और इसी लिए साथ रहनेवाली जातियों की अपेक्षा हिन्दू-जाति निर्बल समझी जाने लगी थी और इसी लिए उसे समय-समय पर अपमानित भी होना पड़ता था।

(६) कर्म की निरादरता का भाव मतमतान्तरों की कुशिक्षा से हिन्दू-जाति मे प्रचलित हो जाने से सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था ख़राब हो चली थी और अनेक लोग भूखों मरने लगे थे। इसी प्रकार अनाथ और विधवाओं की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जाती थी और उनकी रक्षा का प्रबन्ध न होने से उन्हे विधर्मी बनना पड़ता था।

(७) बाल-विवाह पराकाष्ठा को पहुँच चुका था और उसका दुष्परिणाम यह था कि हिन्दू जाति मे लाखों बाल-विधवाएँ हो गई थी। जिनमे अनेक विधवाएँ एक वर्ष तक की भी आयु वाली थीं और बाल-विधवा (अक्षतयोनि) विवाह के प्रचलित न होने से भ्रूणहत्या, गर्भपात, नवजात बालक बध आदि अनेक पातक थे जो हिन्दू-जाति के लिए कलंक का टीका बन रहे थे।

(८) जन्म से जाति प्रचलित होने और खानपान मे छूतछात की मात्रा बढ़ जाने से हिन्दुओं मे परस्पर घृणा का भाव बराबर बढ़ता चला जा रहा था।

(९) शूद्र और दलित जातियों के साथ उच्च जातियों का व्यवहार अत्यन्त आक्षेप के योग्य था और न केवल आक्षेप के योग्य ही, किन्तु उन (दलित) जातियों के लिए

असह्य था। और इसीलिए ये दलित भाई बहु संख्या में ईसाई * और मुसलमान बन रहे थे।

* मदरास के लार्ड बिशप ने अपनी ११ दिसम्बर १६०२ ई० की वक्तृता में इस बात को इस प्रकार स्वीकार किया है :—

"In South India the accessions to the Christian Church during this period have been mainly, though not exclusively from the humbler ranks of Hindu population......The Pariah has been kept for centuries by the Hindu religion in a state of hopeless degradation He knows the contempt with which he is treated and the hardships he endures are the direct and necessary re ult of the religion of his forefathers. He finds for the first time a religion which treats him of the true dignity of his human nature, sweeps away the barriers which separate him from his kind and proclaimes to him that he is in common with the Englishman and the Brahman, a son of God and an inheritor of the kingdom of heaven. That I believe is the Simple explanation of the mass movement that has taken place in the past twenty years and are taking place still among the Pariahs of South India towards Christianity."

भाव इसका यह है कि "दक्षिण भारत में ईसाइयों की वृद्धि विशेष कर हिन्दुओं की दलित जातियों में हुई है। हिन्दू-धर्म ने सैकड़ों

(१०) स्त्रियों का मान बहुत घट चुका और नित्य प्रति घट रहा था। उनको शिक्षा पाने का अधिकार न था। मनुष्यत्व के साधारण अधिकारों से भी वे वंचित रक्खी जाती थीं। उनकी अवस्था का चित्र तुलसीदास की इस चौपाई से भली-भाँति खिंच जाता है :—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

(११) हिन्दू-जाति ईश्वर से विमुख हो रही थी। ईश्वर की उपासना को भूलकर उस (उपासना) का स्थान अपने हाथ से घड़ी हुई पीतल और पत्थर की मूर्तियों की पूजा को दिया गया*। एक ईश्वर मानने की जगह ३३ करोड़ देवता माने जाने

वर्षों से इन दलितों को अत्यन्त अवनत अवस्था में छोड़ रक्खा है। जो घृणित व्यवहार उनके साथ किया जाता है उससे वे (दलित) अनभिज्ञ नहीं और उसे अपने पूर्वजों के मत का परिणाम समझते हैं। उन्हें पहली बार ईसाईमत की जानकारी हुई जो उन्हें मनुष्यत्व की शिक्षा देना और उन रुकावटों का दूर करना जिनसे वे अन्य मनुष्यों से पृथक् रहते हैं सिखाता है। और जो उन्हें बतलाता है कि उन (दलित) और अंग्रेज तथा ब्राह्मणों में कोई भेदभाव नहीं। वे भी ईश्वर के पुत्र और स्वर्ग के अधिकारी हैं—हमारी समझ में ईसाई-मत के दक्षिण में सर्वसाधारण में प्रचलित हो जाने का मुख्य हेतु है।"

* इस गिरी हुई पूजा ने हिन्दू-जाति में जो गिरावट पैदा कर दी थी उसका दिग्दर्शन इसी एक बात से हो सकता है कि जब काशी में विश्वनाथजी का मन्दिर तोड़ा गया था तो विश्वनाथजी का उस समय का एक चमत्कार प्रसिद्ध किया जाता है और वह यह है कि जब यवन लोग मन्दिर तोड़ चुके और विश्वनाथजी से उनका

लगे थे और इतने पर भी बस न था इस ३३ करोड़ संख्या में मियाँ-मसानी आदि अनेक देवताओं की वृद्धि होती ही जाती थी ।

अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है । यह और ऐसी ही और परिस्थिती थी जिसने स्वामी दयानन्द को जन्म दिया ।

दूसरा परिच्छेद ।

स्वामी दयानन्द को इस परिस्थति का ज्ञान क्योंकर हुआ?

स्वामीजी एक औदीच्य ब्राह्मणों के शैव घराने में सम्वत् १८८१ वि० में काठियावाड़ प्रान्त के अन्तर्गत टंकारा ग्राम में उत्पन्न हुए थे, और उनका नाम मूलशंकर था । एक बार शिवरात्रि के पर्व पर उनके पिता ने जब 'मूल' की आयु केवल १४ वर्ष की थी उन्हें शिवरात्रि का व्रत रखने के लिए विवश किया और व्रत रक्खा गया। रात्रि में जब उनके पिता उनके साथ शिव की पूजा करके चढ़ावा चढ़ा चुके और शिव की आराधना के विचार से शिव के सामने बैठे तो ऊँघने लगे । इसी बीच में एक चूहा आया जो अच्छी तरह जानता था कि शिव की मूर्ति चेतनाशून्य एक जड़ वस्तु है और इसी

भेंटा होने वाला था तो विश्वनाथजी उनसे बचने के लिए समीपवर्ती एक कुण्ड में जाकर छिप गए । वाह रे चमत्कार! भला जिनके देवता यवनों से भयभीत होकर कुओं में छिपते है वे किस प्रकार यवनों का मुकाबला कर सकते थे । इस दुर्विचार ने हिन्दू-जाति को और भी निर्बल बना दिया और बराबर बनाता चला जा रहा है ।

लिए निर्भीकता के साथ मूर्त्ति के ऊपर इधर-उधर घूम करके मज़े से चढ़ावे की वस्तुएं चखने लगा, स्वामीजी इस घटना को देख कर चकित हो गये कि यह कैसा शिव है कि जो चूहे से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। पिता को जगा कर अपना सन्देह प्रकट कर दिया किन्तु उत्तर डाँट-डपट के सिवाय कुछ न था। इस घटना ने* स्वामी जी की आँखें खोल दीं और देवी देवता की पूजा के नाम से ईश्वरोपासना की जो मिट्टी पलीद की जा रही थी उसका उन्हें पूरा ज्ञान हो गया था।

एक दूसरी घटना

इस घटना के कुछ काल बाद स्वामीजी की प्रिय भगिनी और चाचा की (जो स्वामी जी को बहुत प्यार से रखता था) थोड़े थोड़े अन्तर से मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने मृत्यु का प्रश्न भी स्वामी जी के सामने रख दिया और वह सोचने लगे कि मृत्यु क्या है, और किस प्रकार मनुष्य इसपर विजय पाकर मृत्युंजय हो सकता है+।

योगाभ्यास और तपस्वी जीवन

इन दो घटनाओं से स्वामी जी को काफ़ी शिक्षा मिल गई और उन्होंने जीवनोद्देश्य की सिद्धि के लिए पैतृक सम्पत्ति पर लात मार कर प्राचीन विश्वविद्यालयों की ओर

---

* सर सय्यद अहमद ने इसी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह इलहाम नहीं था तो क्या था?

+ गौतम बुद्ध ने पहली बार जब एक शव को श्मशान भूमि में ले जाते देखा तो उसके सामने भी यह मृत्यु का प्रश्न उपस्थित हुआ था और उसे गृह-त्याग के लिए विवश किया था।

जिनके स्थान भारतवर्ष के जंगल और तपोभूमियाँ ही हुआ करती थीं, पग बढ़ाया और संन्यास ग्रहण किया। और मूलशंकर से दयानन्द बन कर योग सीखना शुरू किया और कठोर तप के जीवन में प्रवेश करके और नर्मदा के तट से लेकर हिमालय की कन्दराओं तक का पर्यटन करते हुए जिससे और जहाँ से जो शिक्षा मिली ग्रहण करते रहे। शरीर पर एक लँगोटी के सिवाय दूसरा वस्त्र नहीं था। शीत की ऋतु है—एक बर्फ़ से जमी हुई नदी को पार करना था जब कि पिशाचिनी भूख ने भी सता रक्खा था, नग्न शरीर से ही बर्फ़ की चट्टानों से टकराते गिरते-पड़ते किसी प्रकार नदी को पार किया और इन्हीं बर्फ़ की चट्टानों में से दो-एक टुकड़े तोड़ कर भूख को शान्त किया। सब कष्ट जिनके स्मरण करने मात्र से साधारण मनुष्यों के ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े शूर-वीरों के भी हृदय काँप उठते हैं, प्रसन्नता से सहन करते हुए स्वामी दयानन्द ज्यों ज्यों शिक्षा और दीक्षा में ज्ञान और बल वृद्धि करते जाते थे, त्यों-त्यों अपने में साहस और उत्साह की मात्रा का अधिकता से अनुभव करते जाते थे। इसी लिए जो कदम उठता था आगे ही उठता था; पीछे फिरने का विचार भी नहीं आता था। कठिन से कठिन झाड़ियों का हाथों और पाओं के सहारे से, पशुओं की तरह चल कर पार कर लेना उनके लिए साधारण काम था। जब एक झाड़ी को पार करते हुए सामने एक भयानक रीछ आ गया और आक्रमण करने की चिन्ता ही में था कि स्वामी जी के निर्भीकता के साथ जम कर खड़े हो जाने और दण्ड के पृथिवी पर ठोकर देने-मात्र से वह भालू साहस छोड़ कर भाग जाता है। यह था अखंड ब्रह्मचर्य का बल—यह था आत्मशक्तियों के विकास

का परिणाम जिसने स्वामी दयानन्द को १९ वीं शताब्दी मे प्राचीन काल के ऋषि मुनियों का उदाहरण बना रक्खा था । इस प्रकार स्वामीजी समाधि पर्य्यन्त योग का उच्च शिक्षा प्राप्त करते और तप से अपने शरीर को फौलाद का शरीर बनाते हुए मथुरा मे पहुंच कर अपने अन्तिम गुरु श्री स्वामी विरजानन्द का द्वार खटखटाते है—तीन वर्ष तक इस अद्भुत गुरु के चरणों मे बैठ कर स्वामी दयानन्द अष्टाध्याई, महाभाष्य की शिक्षा पाते और अनेक ऋषि-प्रणीत ग्रन्थो की जानकारी प्राप्त करते हुए सब से बड़ी वस्तु वेदार्थ करने की कुञ्जी प्राप्त करते है। इस प्रकार यहीं उनकी शिक्षा और दीक्षा समाप्त होती है।

तीसरा परिच्छेद ।

गुरुदीक्षा और कार्य-क्षेत्र मे प्रवेश

शिक्षा और दीक्षा समाप्त हो गई सही परन्तु स्वामी जी का इस अन्तिम गुरु से छुटकारा सुगम कार्य न था । इस अद्भुत गुरु की गुरु-दीक्षा भी अद्भुत ही थी । इसने स्वामी दयानन्द से वचन ले लिया था कि वे अपना सारा अवशिष्ट जीवन वेद-प्रचार, पाखंड-खंडन, मानव-जाति के उद्धार और प्राचीन आर्य-सभ्यता के विस्तार मे लगावेंगे । इसी उद्देश्य को लक्ष्य मे रखते हुए और यह सोचते हुए कि यदि योग का अभ्यास करते हुए मोक्ष को प्राप्त भी कर लिया तो उससे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि होगी, उन्होंने इस उद्योग मे मुँह फेर कर जनता के सुधार-कार्य करने ही

में अपना जीवन लगा देना श्रेष्ठ समझा, और इसी उद्देश्य से परिभ्रमण प्रारम्भ किया । अनेक स्थानों पर भ्रमण करने और लोगों को वैदिक धर्म की शिक्षा देते हुए कुम्भ के मेले पर हरिद्वार पहुँचे, और वहाँ एक स्थान पर डेरा डालकर प्रचार-कार्य आरम्भ किया ।

पाखंड-खंडनी पताका

उनके कैम्प की विशेषता उनकी पताका थी जो वहां लगाई गई थी और जिस पर 'पाखंड खंडनी पताका' लिखा हुआ था । अनेक पुरुष स्त्री, साधु-संन्यासी, पण्डित-विद्वान वहां आते और प्रश्नोत्तर करते रहे । स्वामी जी प्रत्येक को उसके पाखण्डों का ज्ञान करा कर उनके छोड़ने और वैदिक शिक्षा के ग्रहण करने का उपदेश देते रहे । मेले के अंत तक उनका यह कार्य बराबर जारी रहा । मेला समाप्त होने पर उनके हृदय में यह विचार आया, कि उनके उपदेशों का प्रभाव जितना चाहिये था उतना नहीं हुआ । इसके हेतु पर उन्होंने विचार किया और निश्चय यह हुआ कि अब भी उनमें तप की कमी है* । और इसी लिये मेले के समाप्त होते ही सर्वमेध यज्ञ करके जितनी भी वस्तुएँ उनके पास थीं सब एक-एक करके दे डालीं और एक लँगोटी के सिवाय अपने

* दुनिया के लोगों ने एक नियम-सा बना रक्खा है कि असफलता का दोष अन्यों के सिर मढ़ा करते हैं परन्तु ऋषि दयानन्द का मामला ही विलक्षण है । वह अपनी असफलता का दोष—यदि इसे असफलता कहा जा सके—अपने जिम्मे लेता है और अपने में तप की कमी देखता है । यही है ऋषियों का ऋषित्व ।

पास कुछ नहीं रक्खा । इस प्रकार सब कुछ देकर गङ्गा तट पर भ्रमण और निवास करते, तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए प्रचार करते रहे ।

एक अद्‌भुत दृश्य

कर्णवास के निकट गंगा-तट की विस्तृत रेती है । रात्रि का समय है, चाँदनी खिल रही है, शीत-ऋतु अपना प्रभाव रेती पर डाल रही है । इसी रेती पर एक नग्न शरीर केवल कौपीनधारी आदित्य ब्रह्मचारी लेटा हुआ प्रभु के महान् यश को आँखें पसार-पसार कर देख रहा है । हृदय मग्न और चित्त प्रफुल्लित है । मन आह्लादित हो रहा है । ऋषि दयानन्द के द्वन्द्व से रहित स्वच्छ हृदय में कोई चिन्ता है तो आर्यजाति के भविष्य की, कोई सोच है तो गिरे हुए भारतवर्ष की, कोई कामना है तो वेद-प्रचार की । अहा ! कैसा अपूर्व दृश्य, एक तपस्वी ईश्वर के प्रेम में मग्न होते हुए भी मानव-जाति के उद्धार की चिन्ता मे निमग्न है । धन्य है भारतभूमि ! धन्य है ऋषि-मुनियों की जन्मदात्री भूमि ! धन्य है वैदिक सभ्यता की प्रसारकर्त्री भूमि ! तेरे सिवाय किस में सामर्थ्य है कि दयानन्द जैसा पुत्र उत्पन्न कर सके ? तेरे सिवाय और किसमें शक्ति है कि ऐसा निष्काम तपस्वी वीर पैदा कर सके ।

ऋषि दयानन्द का कार्य

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने अपना भावी कार्यक्रम स्थिर कर लिया, जिसको हम ३ भागों में विभक्त कर सकते हैं ।

(१) मौखिक प्रचार और शास्त्रार्थों द्वारा पाखण्ड-खण्डन और वेद-प्रचार । (२) वेदों के भाष्य और अन्य ग्रन्थों के

निर्माण द्वारा सं० १ प्रचार की दृढ़ भूमि तैयार करना। (३) उपयुक्त दोनों कार्यों के जारी रखने के लिये अपने स्थानापन्न की भाँति आर्यसमाजों का स्थापित करना।) पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने काशी आदि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों पर जाकर अनेक व्याख्यान दिये और ईसाई, मुसलमान और पौराणिकों से अनेक शास्त्रार्थ किए। जिसका फल यह हुआ कि लोग वेदों की सचाई का लोहा मानने लगे। प्राचीन आर्य-सभ्यता की धाक बँध गई और संस्कृत-भाषा का सिक्का लोगों के दिलों में बैठ गया। महमूद, औरङ्गज़ेब मूर्त्तियों को तोड़-फोड़ कर भी हिन्दुओं से मूर्त्ति-पूजा छुड़ाने में सफलता प्राप्त नहीं कर सके थे परन्तु स्वामी दयानन्द के सचाई से भरे मधुर उपदेशों ने वह काम किया जो उनकी तलवारें नहीं कर सकतीं थीं। कानपुर आदि अनेक स्थानों में लोगों ने अपने-अपने मन्दिरों और घरों से मूर्त्तियाँ उठा-उठा कर गङ्गा में बहानी शुरु कर दीं। और इस प्रकार लाखों नर-नारी मूर्तिपूजा की अवैदिक प्रथा से मुक्त हो गए।

(२) दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वेदभाष्य का प्रारम्भ किया। यजुर्वेद तो पूर्ण हो गया था। परन्तु ऋग्वेद सातवें मण्डल के कुछ सूक्तों तक ही हो सका। इन ग्रन्थों ने असंख्य मनुष्यों के हृदयों में प्रकाश पहुँचाया। ब्रह्मचर्य की महत्ता स्थापित की, वेद और वैदिक सभ्यता से प्रेम उत्पन्न किया। इन ग्रन्थों का प्रचार भारत देश की चारदीवारी से निकल कर योरप

और अमेरिका आदि देशों में भी हुआ*।

(३) तीसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए बम्बई, आगरा, मेरठ, देहली, अजमेर, लाहौर आदि अनेक स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की गई। ऋषि दयानन्द ने जिस उद्देश्य से आर्य-समाजों की स्थापना की थी आर्यसमाजें यथासम्भव उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यत्नवान् हैं और इस अर्थ में वे ही स्वामी जी के सच्चे स्थानापन्न हैं।

ऋषि दयानन्द के अन्तिम कार्य और उनका परलोक गमन

ऋषि दयानन्द ने अवशिष्ट जीवन इन्हीं तीन उद्देश्यों की पूर्ति में लगाया। उन्होंने उद्देश्य नं० २ की पूर्ति के लिए एक प्रेस भी खोला था जो आज कल अजमेर में 'वैदिक प्रेस' के नाम से प्रसिद्ध है। अपने रचे पुस्तकों के छपवाने आदि के प्रबन्ध और छोड़ी हुई सम्पत्ति को अनाथों की रक्षा और देश-देशान्तर, द्वीप द्वीपान्तर में वैदिक धर्म के प्रचार में लगाने के लिए एक सभा 'परोपकारिणी सभा' के नाम से स्थापित की। वैदिक प्रेस आदि का प्रबन्ध इसी परोपकारिणी-सभा के आधीन है। इस सभा के प्रधान उस समय श्री महाराणा सज्जनसिंह जी उदयपुराधीश, मन्त्री पं० विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या और सभासद् महादेव गोविन्द रानाडे आदि आदि सज्जन थे। इस समय इस सभा

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को गत वर्ष इलाहाबाद-युनिवर्सिटी ने अपने संस्कृत के कोर्स में दाखिल करके अपनी एक त्रुटि की पूर्ति की है। एक दिन समीप ही में आने वाला है जब की हिन्दुस्तान की युनिवर्सिटियों को स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य का भी ऐसा ही मान करना पड़ेगा।

के प्रधान महाराजा गायकवाड़ सर सियाजी राव बड़ौदाधीश और मन्त्री श्री राजाधिराज सर नाहरसिंहजी बहादुर शाहपुरा नरेश हैं।

प्रचार के लिए भ्रमण करते हुए जोधपुर-राज-परिवार के सदस्यों के आग्रह से स्वामीजी जोधपुर पहुंचे। उन्हें राज प्रबन्ध से एक विशाल भवन में ठहराया गया। जोधपुर दरबार ने स्वामीजी को दरबार में पधारने का निमन्त्रण दिया। स्वामीजी दरबार की ओर गये। दरबार में उस समय एक वेश्या जिस पर जोधपुर नरेश रीझे हुए थे, मौजूद थी। स्वामीजी के दरबार में पधारने का समाचार पाते ही दरबार से वेश्या को विदा किया गया। परन्तु जब वेश्या की डोली चली तो जोधपुर नरेश ने भी इस विचार से कि डोली जल्दी चली जाय घबराहट में डोली के उठाने आदि में सहारा दिया। इस अन्तिम कृत्य को स्वामीजी ने देख लिया और बड़ी निर्भीकता के साथ वीर स्वर से महाराजा को सम्बोधन करके कहा—"राजा सिंह समान होते हैं। धिक्कार है यदि वे कुतिया सदृश वेश्याओं के पीछे दौड़ें।" महाराज का शिर लज्जा से नीचा हो गया परन्तु वेश्या क्रोध से जल-भुनकर लाल अंगारा बन गई। परिणाम यह हुआ कि उस वेश्या ने अपने सहायकों की सहायता से स्वामी जी को कांच अत्यन्त बारीक पिसवा कर दूध में मिला कर दिलवाया। स्वामी जी जोधपुर से रुग्णावस्था ही में आबू और फिर अजमेर पहुँचे, जहां कार्त्तिक बदी आमावस्या सं० १९४० वै० ठीक दीपावली के दिन वेद-मन्त्रों का उच्चारण करके प्रसन्न चित्त यह कहते हुए "ईश्वर आप ने अच्छी लीला

की, आपकी इच्छा पूर्ण हो।" अन्तिम श्वास छोड़ कर संसार से विदा हो गये।

चौथा परिच्छेद ।

यों तो ऋषि का सारा जीवन विचित्र और विलक्षण घटनाओं से भरा हुआ है और कुछ भी छोड़ने के योग्य नहीं है, परन्तु विस्तार भय से उन में से केवल कुछेक का यहां उल्लेख किया जाता है—

ऋषि दयानन्द के जीवन की विशेष घटनाएं

(१) अनूपशहर की घटना है कि स्वामी जी के स्पष्ट उपदेश से अप्रसन्न होकर एक दुष्ट पुरुष ने स्वामी जी के पास आकर नम्रता प्रदर्शित करते हुए एक पान का बीड़ा स्वामी जी की भेंट किया। स्वामी जी ने लेकर उसे मुंह में रख लिया। मुंह में रखते ही उन्हें मालूम हो गया कि इस में विष मिला हुआ है। वस्ती और न्योली-क्रिया करके उन्होंने उस के प्रभाव को नष्ट कर दिया। जब यह हाल वहां के मैजिस्ट्रेट सय्यद मुहम्मद को मालूम हुआ तो उस ने उस दुष्ट व्यक्ति को पकड़ कर हवालात में रख दिया। और जब वह स्वयं स्वामी जी के पास अपनी कारगुज़ारी प्रकट करने आया तो स्वामी जी ने अप्रसन्नता प्रकट करके उसे छुड़वा दिया और कहा कि "मैं दुनिया को कैद कराने नहीं, किन्तु कैद से छुड़ाने आया हूँ।"

(२) जब स्वामी जी कर्णवास मे थे तो अनूपशहर का एक अच्छा संस्कृतज्ञ विद्वान् पं० हीरावल्लभ कतिपय अपने

साथियों के साथ शास्त्रार्थ के लिए स्वामी जी के पास आया। सभा संगठित हुई। हीरावल्लभ ने बीच में ठाकुर जी का सिंहासन, जिस पर शालिग्रामादि की मूर्त्तियां थीं, रखकर सभा में प्रतिज्ञा की कि मैं स्वामी जी से इन्हें भोग लगवा कर ही उठूंगा। छः दिन तक बराबर धारा-प्रवाह संस्कृत में शास्त्रार्थ होता रहा सातवें दिन हीरावल्लभ ने सभा में प्रकट कर दिया कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं वही ठीक है और सिंहासन से मूर्त्तियों को उठा कर गङ्गा में प्रवाहित करके सिंहासन पर वेद की स्थापना की।

(३) कर्णवास ही की एक दूसरी घटना है। एक दिन स्वामी जी गङ्गा-तट पर उपदेश कर रहे थे। बरेली के राव कर्णसिंह अपने कुछ हथियारबन्द साथियों सहित वहां आए। और बातचीत करते करते ही बड़े क्रोध में आकर उन्होंने तलवार खींचकर स्वामी जी पर आक्रमण किया। स्वामी जी ने तलवार छीन कर दो टुकड़े कर दिए और राव को पकड़ कर कहा कि मैं तुम्हारे साथ इस समय वही सलूक कर सकता हूं जो किसी "आततायी" के साथ किया जा सकता है, परन्तु मैं सन्यासी हूँ इसलिये छोड़ता हूँ। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति देवे।

(४) प्रयाग की एक घटना है कि एक दिन स्वामी जी सभा में बिराजमान थे, पं० सुन्दरलाल जी आदि कतिपय सभ्य पुरुष भी उपस्थित थे। स्वामी जी यकायक हँस पड़े। कारण पूछने पर बतलाया कि एक पुरुष मेरे पास आ रहा है उस के आने पर एक कौतुक दिखाई देगा। थोड़ी देर के बाद एक व्यक्ति स्वामी जी के लिये कुछ मिठाई लाकर कहने

लगा कि महाराज इसमें से कुछ भोग लगावें। स्वामीजी ने थोड़ी-सी मिठाई उठाकर लानेवाले को दी कि इसे तुम खाओ परन्तु उसने मिठाई लेने और खाने से इन्कार कर दिया। स्वामीजी इस पर हँस पड़े और पं० सुन्दरलालजी आदि पुरुषों से कहा कि देखो यह अपने पाप के कारण स्वयं कांप रहा है और लज्जित है। इसे पर्य्याप्त दण्ड मिल गया अब और किसी दण्ड की ज़रूरत नहीं। यह थी दयानन्द की दयालुता !

✓ (५) एक दिन बरेली मे स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। व्याख्यान में नगर के गण्यमान्य पुरुष और बड़े बड़े राज-कर्मचारी कमिश्नर आदि सभी उपस्थित थे। व्याख्यान में ईसाईमत का खूब खण्डन किया गया। दूसरे दिन के व्याख्यान से पूर्व उनसे कहा गया कि आप इतना खण्डन न करें इससे उच्च कर्मचारी अप्रसन्न होंगे। दूसरे दिन का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। व्याख्यान में कमिश्नर आदि सभी उच्च राज कर्मचारी उपस्थित थे। स्वामीजी ने गरज कर कहा **"लोग कहते हैं कि असत्य का खण्डन न कीजिये इससे कमिश्नर अप्रसन्न होगा, कलेक्टर नाराज़ होगा परन्तु चाहे चक्रवर्ती राजा भी अप्रसन्न क्यों न हो जाय हम तो सत्य ही कहेंगे"**। इसी को कहते हैं सत्य पर अटल विश्वास।

(६) एक दिन कतिपय सज्जनों के साथ उदयपुर में स्वामीजी भ्रमण करने जा रहे थे। मार्ग में कुछ बालक खेल रहे थे, उनमें एक बालिका भी थी। स्वामीजी ने उसे देख कर शिर झुका दिया। पूछने पर प्रकट किया कि "यह

मातृ शक्ति है जिसने हम सबको जन्म दिया है" इस प्रकार सम्मान का भाव जब स्त्री जाति के प्रति हो तब कोई जाति असभ्य कही जा सकती है ?

(७) उदयपुर की एक दूसरी घटना है। एक दिन स्वामीजी ने श्री महाराणा सज्जनसिंह जी उदयपुर नरेश को मनुस्मृति का पाठ पढ़ाते हुए कहा कि "यदि कोई अधिकारी धर्मपूर्वक आज्ञा दे तभी उसका पालन करना चाहिये। अधर्म की बात न माननी चाहिये।" इस पर सरदारगढ़ के ठाकुर मोहनसिंहजी ने कहा कि महाराणा हमारे राजा हैं, यदि इनकी कोई बात हम अधर्मयुक्त बतला कर न मानें तो ये हमारा राज ही छीन लें। इस पर स्वामीजी ने कहा कि **"धर्म हीन हो जाने से और अधर्म के काम करके अन्न खाने से तो भीख माँग कर पेट का पालन करना अच्छा है।"**

(८) एक तीसरी घटना उदयपुर की और भी है। एक दिन एकान्त में स्वामीजी से महाराणा ने कहा कि महाराज ! आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें। यदि आप इसे स्वीकार कर लें तो एक लिङ्ग महादेव के मन्दिर की गद्दी जिससे लाखों रुपये की जायदाद लगी हुई है आपकी होगी, और सारे राज्य के गुरु माने जावेंगे।" स्वामीजी ने उत्तर दिया— "आपके सारे राज्य से मैं एक दौड़ लगा कर बाहर जा सकता हूँ। फिर मैं किस प्रकार इस तुच्छ प्रलोभन में आकर ईश्वर की आज्ञा को भंग करूँ।" "यह है सच्चा त्याग !"

(९) जोधपुर की वेश्या के षड्यन्त्र में फंस कर

लालची जगन्नाथ ने स्वामी जी का विश्वासपात्र पाचक होते हुए भी स्वामी जी को बारीक पिसा हुआ कांच दूध में मिला कर पिला दिया। स्वामी जी ने प्रकट हो जाने पर जगन्नाथ को कुछ न कहकर कहा कि "जगन्नाथ ! लो ये कुछ रुपये हैं। इन्हें लेकर नैपाल-राज्य आदि किसी ऐसे स्थान पर चला जा, जहां तू पकड़ा न जा सके और तुझे अपने प्राण न खोने पड़ें।" आहा ! इस दया और उदारता का कुछ ठिकाना है जो अपने घातक को भी पीड़ित नहीं देखना चाहते !!

(१०) पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम. ए. साइन्स के उच्च-कोटि के विद्वान् थे। स्वामी जी से अगाध प्रेम रखते थे। परन्तु दुर्भाग्य से उन्हें ईश्वर की सत्ता में विश्वास न था। स्वामी जी ने अनेक बार उनको समझाया। अन्त में गुरुदत्त ने कहा, महाराज ! मैं आपके तर्कों का खण्डन नहीं कर सकता। आपके प्रमाणों का भी प्रतिवाद नहीं कर सकता परन्तु क्या कहूँ अभी तक मेरे अन्तरात्मा ने स्वीकार नहीं किया है कि ईश्वर कोई सत्ता है। बात यहीं तक रह गई। जब स्वामी जी का अन्त समय आया और अजमेर में अनेक सज्जन स्वामी जी के अन्तिम दर्शन को गये उनमें पं० गुरुदत्त भी थे। स्वामी जी ने वैदिक यंत्रालय के कर्मचारियों, वेद-भाष्य-सम्बन्धी सेवकों, और बाहर से आये हुए सज्जनों से आवश्यक बात कर ली और जब उन्हें सांसारिक कर्तव्य करना कुछ बाकी नहीं रहा, तो सबसे कह दिया कि अब सब पीछे हो जाओ। सब पीछे चले गये, परन्तु पं० गुरुदत्त एक कोने में छिप कर इस प्रकार खड़े हो गये कि उनको तो स्वामी जी न देख सकें परन्तु ये उनकी अन्तिम घटना को।

देख सकें। स्वामी जी मृत्यु-शय्या पर बैठ जाते हैं और कुछ प्राणायाम करते हैं, फिर कुछ वेद-मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। मन्त्रोच्चारण करते करते एक साथ उनके मुखड़े पर मुसकुराहट आई। बस, यह मुसकुराहट क्या थी मानो एक समस्या थी जो पं० गुरुदत्त के सम्मुख उपस्थित हो गई। पं० गुरुदत्त सोचता है कि कोढ़ से जिसका सारा शरीर गल रहा हो, जिसे किसी प्रकार का सुख नहीं हो और जो जेलखाने में क़ैद भी हो, पूछा जाय कि इन सारी आपत्तियों और कष्टों से छूटने के लिए क्या मरना चाहते हो ? तो मरने का नाम सुन कर वह भी कानों पर हाथ रखता है। मृत्यु इतनी भयावनी है। वही मृत्यु इस महान् पुरुष के सम्मुख उपस्थित है परन्तु यह इस प्रकार मुसकुरा रहा है मानो किसी बिछुड़े हुए से मिलाप हो गया। स्वामी जी की यह मुसकुराहट क्या थी मानों एक विद्युत थी जो पं० गुरुदत्त के हृदय में जाकर और उसमें जो कुछ नास्तिकता का कूड़ा-करकट जमा हो रहा था उसको भस्म कर दिया। अब पं० गुरुदत्त उच्च श्रेणी का आस्तिक है। महान पुरुषों का जीवन ही नहीं किन्तु मृत्यु भी शिक्षाप्रद होती है।

दूसरा अध्याय
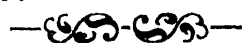
पहला परिच्छेद।
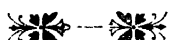
आर्यसमाज

पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि ऋषि दयानन्द का तीसरा उद्देश्य यह था कि आर्यसमाजों की स्थापना की जाय, जिससे वे उनके स्थानपन्न की भाँति उनके आरम्भ किये हुए कार्यों को जारी रख सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहा जा चुका है कि उन्होंने बम्बई आदि स्थानों में आर्यसमाज स्थापित किये। सबसे पहला समाज चैत्र सुदी ५ सं० १६३२ वि० को उन्होंने बम्बई मे स्थापित किया था। आर्यसमाज की स्थापना के बाद स्वामी जी केवल ८ वर्ष और जीवित रहे थे। ८ वर्ष का ही उनका सारा वह काम है जो उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना आदि के सम्बन्ध मे किया था। आर्यसमाज क्या है ? इसका भली-भाति परिचय सर्वसाधारण को हो जाय इसलिए हम आर्य समाज के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम आगे के पृष्ठों में आर्यसमाज के नियम और मन्तव्य क्या हैं इस पर प्रकाश डालेंगे।

दूसरा परिच्छेद।

आर्यसमाज के नियम

१-- सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि-मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उस की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और समाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

६—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

नियमो पर एक दृष्टि

इन नियमों का वास्तविक रूप सर्वसाधारण की दृष्टि में आ जाए इसलिए इनके सम्बन्ध में कुछ एक बातों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिए उन सबको यहाँ लिख देते हैं।

पहला नियम—आदि-मूल (first cause) निमित्त या चैतन्य कारण को कहते है। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है—इसमें कुम्हार निमित्त (आदि) कारण और मिट्टी उपादानकरण (material cause) है। इस विषय में दो वस्तुएं हैं जिनका निमित्तकारण परमेश्वर को कहा गया है (१) सब सत्य विद्या (२) जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है। सत्य विद्या—तीनों काल मे एक जैसा रहनेवाले ज्ञान को कहते है। वह कौन-सा ज्ञान है जो तीनों काल मे एक जैसा रहता है? वह है ईश्वर, जीव और (कारण रूप) प्रकृति का ज्ञान। परमेश्वर को जो इस नियम मे आदि (मूल) कारण कहा गया है इसका भाव यह है कि वह उसी (ईश्र+जीव+प्रकृति के) ज्ञान का आदिकारण है। यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर इन तीन वस्तुओं (ईश्वर+जीव+कारण रूप प्रकृति) का भी आदिकारण है—क्यों कि ये सब तो नित्य (अनादि) हैं। इसी सत्य विद्या का नाम वेद है, जैसा कि तीसरे नियम मे कहा गया है। इसलिए पहली बात जो यह नियम बतलाता है, यह है कि परमेश्वर सत्य विद्या अर्थात् वेद का आदिमूल है और इसी लिए ईश्वर को आदि गुरु भी कहा जाता है+

* स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योग दर्शन १ । २६)

(२) विद्या परिवर्तनीय ज्ञान को कहते हैं। ब्रह्मांड में परिवर्तनीय वस्तु क्या है? कार्यरूप प्रकृति। कार्यरूप प्रकृति ही का नाम सृष्टि है परिवर्तनीय वस्तुओं (जगत्) का ज्ञान भी परिवर्तनीय होता है। इसलिए परिवर्तनीय ज्ञान (विद्या) सृष्टि विद्या या जगत् के ज्ञान को कहते हैं। इसी ज्ञान (विद्या) से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान मनुष्य को हुआ करता है। परिणाम यह है कि परमेश्वर जगत् का निमित्त-कारण है। (जगत् का उपादानकारण प्रकृति है)। संक्षेप के साथ पहले नियम को इस प्रकार कह सकते हैं कि परमेश्वर वेद और जगत् का निमित्त (आदि) कारण है*।

दूसरा नियम—इस नियम में दो बातें वर्णित हैं। पहली बात यह है कि परमेश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु आदि सत्तात्मक गुणों के कारण "सगुण" और निराकार, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि आदि अभावात्मक गुणों के कारण "निर्गुण" भी है। दूसरी बात नियम में यह बतलाई गई है कि इस प्रकार का (सगुण+निर्गुण) ब्रह्म ही एकमात्र उपास्यदेव है। उससे भिन्न किसी की कभी उपासना नहीं करनी चाहिये। इस नियम में आये "सर्वशक्तिमान्" शब्द का भाव यह है कि ईश्वर अपने (सृष्टि) नियमों के अन्तर्गत रहता हुआ अपनी असीम शक्तियों को प्रयोग में लाया करता है। अपने नियमों

---

*यही भाव ऋग्वेद की इस ऋचा में प्रकट किया गया है। "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋग्वेद १०। १९०। १। १) अर्थात् "ऋत" (वेद) और "सत्य" (प्रकृति) ज्ञानमय परमेश्वर के सामर्थ्य से प्रकट हुए।

का स्वयं भी कभी उल्लंघन नहीं करता अर्थात् ईश्वर यह नहीं करता अथवा नहीं कर सकता कि अन्याय करे या अपने जैसा दूसरा परमेश्वर उत्पन्न कर लेवे अथवा अपने को मार लेवें*इत्यादि + ।

* "सर्वशक्तिमान्" का ठीक भाव न समझने के कारण इस्लाम मे दो फ़िरक़े एक दूसरे के सर्वथा विरोधी बन गए थे। एक का नाम 'अश अरी' जो यह मानता था कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है। किसी निर्दोषी को दण्ड भी दे सकता है, किसी अपराधी को छोड़ भी सकता है-इत्यादि दूसरा "मौतज़िला" जो यह मानता था कि ईश्वर नियम और मर्य्यादा के अनुकूल ही सब कुछ करता है। किसी निर्दोषी को दण्ड नहीं देता न किसी अपराधी को क्षमा करता है—इत्यादि। जब अशअरी फ़िरक़े का राज्य हुआ तो उन्होंने अन्याय करके हज़ारो "मौतज़िला" फ़िरके के मुसलमानों को मरवा डाला। (अर्बी इतिहास "मालेल व नहिल")।

+ "सर्वज्ञ" गुण के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का भ्रम जनसमूह मे पाया जाता है। "सर्वज्ञ" और "त्रिकालज्ञ" शब्दों के भाव एक ही हैं इसलिए लोग कहा करते हैं कि जब ईश्वर तीनों काल भूत भविष्यत, वर्तमान की बातें जानता है तो वह उन बातों को भी जानता है, जो मनुष्य भविष्यत् मे करनेवाले हैं। यदि यह ठीक है तो ईश्वर के ज्ञानानुकूल कर्म करने के लिए हम बाध्य हैं। फिर उनकी कर्म करने की स्वतन्त्रता कहां रही और "स्वतन्त्र: कर्ता" के अनुकूल स्वतन्त्र न होने से वे कर्त्ता भी नहीं रहे और इसलिए समस्त कर्मों का असली कर्ता ईश्वर ही है। इस पर हमारा कहना यह है कि ईश्वर अवश्य त्रिकालज्ञ है और यह भली-भांति जानता है कि किन नियमों से प्रलय होगा और उनके बाद किस प्रकार जगत्

तीसरा नियम—"सत्य-विद्या का आदिमूल परमेश्वर है।" यह बात पहले नियम में वर्णित है। तीसरे नियम में कहा गया है कि वेद सत्य-विद्याओं का पुस्तक है जिसका तात्पर्य यह हुआ जैसा कि पहले नियम की व्याख्या में कहा जा चुका है, कि वेद का आदिमूल (प्रकाशकर्ता) परमेश्वर है। इसी लिए वेद का श्रवण और अध्ययन करना आर्यों का धर्म नहीं—अपितु परम-धर्म बतलाया गया है।

चौथा नियम—आर्यसमाज की शोभा है और आर्यसमाज को उन सब पन्थों से सर्वथा पृथक् करता है जो अपनी साधारण और किन्हीं किन्हीं सूरत में सर्वथा निरर्थक उत्पन्न होगा। वह यह भी जानता है कि मनुष्य के किए कर्मों के क्या क्या फल मिलेंगे—इत्यादि परन्तु हमारे कर्मों के सम्बन्ध में ईश्वर का ज्ञान क्या और कैसा है, यह बात समझने के योग्य है। मनुष्य जब कोई काम करता है तो सब से पहले उसका विचार मन में लाता है। जब तक किसी कर्म का विचार भी मन में न आवे तब तक उस कर्म का अभाव ही रहता है। जब मन में विचार आता है तभी से उनका भाव होता है। तो यथार्थ ज्ञान यह हुआ कि भाव का भाव और अभाव का अभाव ज्ञान ही ज्ञाता क हो। यदि कोई भाव का अभाव या अभाव का भाव ज्ञान रखता हो, तो वह ज्ञान विपरीत (मिथ्या) ज्ञान ही है। इसलिए जिन कर्मों के करने का मनुष्य ने मन में अभी विचार नहीं किया है उनका अभाय संज्ञा है और ईश्वर को भी इस अभाव का अभाव ज्ञान ही है। जब मनुष्य मन में कुछ विचारता है तभी से उस कर्म की भाव संज्ञा होती है और तभी से उस भाव को ईश्वर भी भाव समझता है। इस प्रकार ईश्वर के त्रिकालज्ञ होने से मनुष्य के स्वतन्त्र कर्ता होने में कोई बाधा नहीं पहुंचती।

बात के लिये भी* मरने मारने को तैयार रहते हैं। क्यों आर्यसमाज के प्रवर्तक को सत्य इतनी खरी वस्तु मालूम हुई ? इस लिए कि वेद और उपनिषदों में ईश्वर को "सत्य" कहा गया है। ईश्वर क्यों सत्य है इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् ने दिया है। "सत्यम्" शब्द तीन शब्दों का योग हैं (स+ति+यम) "स" जीव को कहते हैं। "ति" ब्रह्मांड को-"यम" शासक का नाम है। इस प्रकार "सत्यम्" परमेश्वर का नाम इस लिए है कि वह जीव और जगत् दोनों को शासन (नियम) में रखता है। (देखो बृह० अ० ५ ब्रा ५ कं० १) फिर प्रश्न है कि ऐसे (सत्यम्) ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। उपनिषद् का उत्तर यह है "तत् सत्ये प्रतिष्ठितम्"। वह ब्रह्म सत्य में प्रतिष्ठित है। इस लिए सत्य को प्राप्त करने और सत्याचरण करने ही से ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं (बृहदारण्यकोपनिषद्)।

इसका परिणाम यह हुआ कि सत्य से विमुख होना ईश्वर से विमुख होना है। इसीलिए सत्य की इतनी महिमा वैदिक साहित्य में गायन की गई है।

पाँचवाँ नियम—शिक्षा देता है कि कर्ता को प्रत्येक कार्य स्वयमेव विचार कर करना चाहिये। उसे करने से पहले उस कार्य के सम्बन्ध में यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वह धर्म कार्य है उसमें असत्य का कोई भी अंश नहीं

* इसलाम का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा हुआ है जिनमे एक मुसलमानी फ़िरके के लोगों को थोड़े मतभेद के कारण वध किया अथवा मुसलमानों से भिन्न मतवाले यहूदी, ईसाई आदि को मुसलमानों ने मारा।

है। वैदिक साहित्य में "सत्य" और "धर्म" पर्य्यायवाचक शब्द समझे जाते है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है। **"यो वै स धर्मः सत्यं तत्तस्मात् सत्यं वै वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त सत्यं वदतीति"** । अर्थात् "निश्चय जो वह धर्म है वह सत्य है। इसी लिए सत्य कहने वाले को कहते हैं कि यह धर्म कह रहा है। इसी प्रकार धर्म को कहते हुए पुरुष को कहते है कि यह सत्य कह रहा है। (बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण ४ कंडिका १४) इस प्रकार यह नियम चाहता है कि अन्ध-विश्वास अथवा आँख बन्द करके किसी के पीछे चलने की प्रथा दुनिया से उठ जाय। इसी प्रथा ने सत्य का ह्रास किया है और अनृत की वृद्धि।

छटा नियम—यह नियम दो बातें प्रकट करता है। एक यह कि आर्यसमाज जिस (वैदिक) धर्म का प्रचार करता है वह किसी देश या जाति विशेष के लिए नहीं किन्तु संसार-भर के लिए है। जैसा कि ऋग्वेद की इस प्रसिद्ध ऋचा में कहा है। **इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तोऽराव्णः** ॥ (ऋ० ९।६३।५)॥ अर्थात् दुर्गुणों का नाश और ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए समस्त जगत् को आर्य बनाना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य को व्यक्ति+समाज का सुधार तीनों प्रकार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करते हुए करना चाहिये।

सातवाँ नियम—सामाजिक व्यवहार की मर्यादा नियत करता है कि जो पुरुष जिस योग्य हो उसके साथ

उसी के योग्य व्यवहार करना चाहिये परन्तु प्रत्येक व्यवहार प्रीति और प्रेम से होना चाहिए।

आठवाँ नियम—अविद्या (अज्ञान) रूपी निर्बलता को दूर करके विद्या (ज्ञान) रूपी बल से संसार के प्राणियों को बलवान् बनाने की दीक्षा देता है ।

नवां नियम—संसार से सम्पूर्ण झगड़ों की जड़ स्वार्थ (खुदगर्ज़ी) को उखाड़ कर फेंक देने की शिक्षा देता है ।

प्रत्येक मनुष्य यदि अन्यों की उन्नति की चिन्ता के साथ अपनी उन्नति में संलग्न हुआ करे तो संसार शान्तिधाम बन सकता है ।

दसवां नियम—व्यक्ति और समाज दोनों के बीच में रेखा खींच कर दोनों के साथ मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसका विधान करता है । प्रत्येक व्यक्ति उन सम्पूर्ण कार्यों के करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति-हित से हो। परन्तु जो कार्य सर्वहितकारी या समाज के हित से सम्बन्धित है इनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको समाज के नियमों का पाबंद समझे। यही विधान है जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति हुआ करती है ।

समष्टि रूप मे आर्यसमाज के नियमों पर एक दृष्टि

मनुष्य इस संसार में तीन कर्तव्यों की पूर्ति के लिये आया करता है । (१) अपने साथ क्या करना चाहिए (२) अन्यों के साथ क्या करना चाहिए। (३) परमेश्वर के साथ क्या करना चाहिए । आर्यसमाज के दस नियम भी इन्हीं तीनों कर्तव्यों का विधान करते हैं। पहले और दूसरे नियम में मनुष्य के कर्तव्य का विधान है जो उसे ईश्वर के सम्बन्ध

में पूरा करना चाहिए । अर्थात् मनुष्य को यह विश्वास रखते हुए कि परमेश्वर जगत् का रचयिता और वेद का प्रकाशक है, उसकी और एकमात्र उसी ईश्वर की उपासना करनी चाहिए ।

[२] आर्यसमाज के ३, ४, ५वें नियम उन कर्तव्यों को प्रकट करते हैं जो मनुष्य को अपने सम्बन्ध में पूरे करने चाहिएँ—वे कर्तव्य ये हैं:—

(१) वेद पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना, चाहिए ।

(२) असत्य को त्याग करके सत्य का ग्रहण करना चाहिए ।

(३) प्रत्येक कार्य्य सत्यासत्य का विवेक करके करना चाहिए ।

[३] अन्त के पाँच नियम उन कर्तव्यों का विधान करते हैं जो मनुष्य को अन्यों के सम्बन्ध मे पूरे करने चाहिएँ और वे ये हैं:—

(१) उसे मनुष्यमात्र की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्नवान् होना चाहिए ।

(२) विद्या का विस्तार करना चाहिए ।

(३) अपनी उन्नति के साथ ही अन्यों की उन्नति का भी विचार रखना चाहिए ।

(४) समाज के नियमों का पाबन्द रहना चाहिए !

हम ने देख लिया है कि आर्यसमाज के नियम यद्यपि गणना में केवल दस हैं परन्तु उनके भीतर इतनी सामग्री मौजूद है जो व्यक्ति और समाज को अधिक से अधिक उन्नति बनाने के लिये पर्याप्त हैं । अब आर्यसमाज के मन्तव्यों पर एक दृष्टिपात करना चाहिए ।

तीसरा परिच्छेद ।

आर्यसमाज के मन्तव्य

यों तो दो शब्दों में आर्यसमाज का मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि जो कुछ वेदों में लिखा है वही आर्यसमाज का मन्तव्य है परन्तु दुर्भाग्य से देशवासियों की स्थिति यह है कि साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान् भी वेद से अनभिज्ञ हैं। तो आर्यसमाज के मन्तव्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त उत्तर जनता के लिए सन्तोषप्रद नहीं हो सकता। इस लिए हम आगे के पृष्ठों में यत्न करेंगे कि कुछ एक ऐसे वेद प्रतिपादित मन्तव्यों का वर्णन कर दें जिससे सर्वसाधारण वैदिकधर्म के लिए कोई सम्मति स्थिर करने के योग्य हो सके।

पहला मन्तव्य—वेदों का त्रित्ववाद है, अर्थात् वेद ईश्वर, जीव और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं[१]। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन तीनों पदार्थों का विभाग इस प्रकार किया गया है कि 'वृक्षरूप प्रकृति भोग्य है, जीव भोक्ता है, परमेश्वर साक्षीमात्र है'।

---

(१) मन्त्र यह है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(ऋ० १ । १६४ । २०)

अर्थः "दो पक्षी (ईश्वर + जीव) मेलवाले परस्पर मित्र अपने सदृश (नित्य) वृक्ष (प्रकृति) को घेरे हुए हैं, उन दोनों में एक जीव उस वृक्ष के फलों (प्राकृतिक भोगों) को अच्छी तरह से खाता (भोगता) तो

प्रकृति जगत् का कारण जड़ वस्तु है। जीवात्मा चैतन्य, अल्पज्ञ, कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। ईश्वर चैतन्य, सर्वज्ञ, जगत् का रचियता, कर्म फलदाता है, परन्तु दूसरा (परमेश्वर) फलों को न खाता हुआ साक्षीमात्र है। यह मन्त्र दो उपनिषदों में आया है और दोनों ने अपने शब्दों में मन्त्र के भाव को प्रकट किया है:—(१) मुंडकोपानिषद् में मन्त्र को उद्धृत करके मन्त्र का अर्थ एक श्लोक में इस प्रकार किया गया है:—"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ (मु० ३।१।२।) अर्थात् (ईश्वर जीव की नित्यता मे) समान (प्रकृतिरूपी) वृक्ष में जीवात्मा डूबा हुआ असमर्थता से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है। जब अपने से भिन्न उपास्य ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है तब शोक से मुक्त होता है।

(२) यही मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है और इस उपनिषद् में भी उसके अर्थ प्रकट करने के लिए मुंडकोपानिषद् के उपर्युक्त श्लोक को ही उद्धृत) कर दिया है और उपनिषद् में अपने शब्दों में मन्त्र के आशयानुसार उस त्रित्ववाद के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रकट किया है:—

(श्वेता२ २।५)

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुशमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

अर्थ:—एक अपने जैसी बहुत प्रजा को उत्पन्न करती हुई रजः सत्व, तमः वाली अनादि प्रकृति को एक अजन्मा जीवात्मा सेवता (भोगता) हुआ लिपटता है। परन्तु दूसरा अजन्मा (परमेश्वर) जीव से भोगी हुई उस (प्रकृति) को नहीं लिपटता है।

आदि अनेक गुणों से सम्पन्न है जिनका विवरण आर्यसमाज के दूसरे नियम में दिया गया है।

जिस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति नित्य हैं, इसी प्रकार इनके गुण भी नित्य हैं और सदैव काम आते रहते हैं। उनके काम में आने का प्रकार यह है कि सृष्टि बार बार उत्पन्न होती और प्रलय को प्राप्त होती रहती है और इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का चक्र भी प्रवाह से अनादि है[1]। ऋग्वेद में कहा गया है कि ईश्वर ने सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अन्तरिक्षादि को पहले कल्प की भांति उत्पन्न किया है[2]।

सृष्टि का प्रयोजन जहां एक ओर ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का सफल होना है, वहां दूसरी ओर जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी है। ईश्वर, जीवादि के सम्बन्ध में वैदिक विचार क्या क्या हैं, उन्हें हम यहां बहुत ही संक्षेप रीति से अंकित करते हैं:—

---

१. "प्रवाह से अनादि" का भाव यह है कि जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते है वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते। परन्तु जिससे संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें नित्य रहता है। उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी। इन तीनों (सामर्थ्य, संयोग, वियोग) को प्रवाह से अनादि कहते हैं।

२. ऋग्वेद का वह मंत्र यह है:—

सूर्य्याचन्द्रमसो धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

(ऋग्वेद १०। १९१। ३)

अर्थात् परमेश्वर ने पहले कल्प के समान सूर्य्य, चन्द्र, दिव्य लोक, पृथिवी और इसके बाद और सब लोक-लोकान्तर इत्यादि बनाये।

ईश्वर यजुर्वेद में लिखा है[1] कि परमेश्वर गति रहित (एक रस) एक मन, से भी अधिक वेगवान् है। इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता, वह सब जगह (सर्वव्यापक होने से) पहले ही से पहुंचा हुआ है और ठहरा हुआ ही दौड़ते हुए अन्य पदार्थों का उल्लंघन कर जाता है। (वह इतना महान् है कि) उसमें वायु (बादल रूप) जलों को धारण करता है"।

"वह गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता[2]। वह दूर है वही पास भी है। वह इस सब (जगत्) के भीतर है और वही इस सबके बाहर भी।"

---

(१) यजुर्वेद के मंत्र ये हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्मा दधाति ॥
(यजुर्वेद ४० । ४)

तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(यजुर्वेद ४० । ५)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(यजुर्वेद ४० । ६)

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं
शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
(यजुर्वेद ४० । ८)

(२) महाप्रलय के बाद जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है यह प्रश्न जो सदैव वैज्ञानिकों तक को चक्कर मे डाले रहता है। महा-

"जो मनुष्य सम्पूर्ण (चैतन्य + जड़) पदार्थों को परमेश्वर ही में और परमेश्वर को सब (चैतन्य + जड़) वस्तुओं में देखता है वह निन्दित नहीं होता (अर्थात ऐसे कर्म नहीं कर सकता जिससे उसकी निन्दा हो)।"

"वह ईश्वर सर्वव्यापक[1], जगत् का उत्पादक, शरीर रहित, छिद्र रहित, नाड़ी और नस के के बन्धन से रहित,

---

प्रलय में प्रकृति गति शून्य होती है क्योंकि उसमें गति स्वभाविक नहीं किन्तु नैमित्तिक होती है। सृष्टि की समाप्ति पर वह निमित्त खत्म हो जाता है। अब गति शून्य प्रकृति से जगत् किस प्रकार बने ? इसके लिए गति की आवश्यकता होती है। वह गति कहां से आती है इसी का उत्तर यह मंत्र देता है कि वह गतिदाता ईश्वर है। परन्तु सर्वव्यापक होने से स्वयं गति रहित है। फिर वह गति किस प्रकार देता है—इसका उत्तर उपनिषदों ने दिया कि जगतोत्पत्ति में पूर्व ईश्वर में जगतोत्पत्ति का विचार आता है जिसे "ईक्षण" कहते हैं। इस ईक्षण ही मे गति उत्पन्न हो जाती है वैज्ञानिक भी कहते हैं कि "Will Preceeds motion" अर्थात् गति से पहले इच्छा होती है। हम इच्छा करते हैं कि चन्द्रमा को देखें, झट हमारा सिर ऊपर उठ जाता है। सिर क्यों उठ जाता है इसका कारण मानसिक इच्छा होती है। परन्तु नास्तिक जगत् इस प्रश्न का, कि गति कहां से आती है, उत्तर नहीं दे सकता। इस लिए हैकल ने (देखो Riddle of Universe) केवल प्रलयवाद को स्वीकार करके महाप्रलयवाद से इन्कार किया है, क्योंकि इस अन्तिम वाद की स्वीकृति से ईश्वर का मानना आवश्यक ठहरता था।

1. वेद ईश्वर को व्यक्ति (Personal) रूप में नहीं किंतु समष्टि (Impersonal) रूप में मानते हैं। वह और (Semitic

पवित्र, पाप रहित, सूक्ष्मदर्शी, मन का साक्षी, सबका अध्यक्ष, अपनी सत्ता से आप स्थिर है। और उसने अनादि प्रजा (जीव) के लिए ठीक २[१] कर्म फलों का विधान किया है।"

जीव ऋग्वेद में जीव की परिभाषा इस प्रकार की गई है[२] कि (अनत्) श्वास लेता हुआ, (एजद्) गति

Religions) यहूदी, ईसाई और मुसलमानी मतों में एक बड़ा अन्तर यही है कि वेद जहां ईश्वर को "विभु" (सर्वदेशी) मानते हैं वहां ये मत उसे परिच्छिन्न (एकदेशी) बतलाते हैं। परन्तु ईश्वर के एकदेशी मानने से उसके गुण—सर्वव्यापकत्वादि में बाधा पहुंचती है।

१. जब यह कहा जाता है कि ईश्वर ठीक ठीक कर्म फल देता है, न्यूनाधिक नहीं, तो कुछेक सज्जन इस पर कह बैठते हैं कि फिर ईश्वर दयालु नहीं हो सकता क्योंकि उसके विचारानुसार दया चाहती है कि अपराधी को माफ़ कर दिया जाय परन्तु न्याय चाहता है कि उसे दण्डित किया जाय। हर्बट स्पेंसर ने भी इसी प्रकार का आक्षेप करके ईश्वर को अज्ञेय (Unknowable) ठहराया है (देखो स्पेन्सर First Principles) परन्तु बात ऐसी नहीं है। अपराधों को माफ़ करके अपराधी को छोड़ देना दया नहीं किन्तु अन्याय है। न्याय और दया में असली फर्क यह है कि न्याय के लिए कर्म की अपेक्षा है किन्तु दया के लिए नहीं। अर्थात् कोई न्यायकारी न्याय नहीं कर सकता यदि कर्म न किए जावें, परन्तु दयालु दया (बिना किसी कर्म के) अपनी ओर से करता है।

२. ऋग्वेद का वह मंत्र इस प्रकार है—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥

ऋ० १।१६४।३०

मान, (तुरगातु) (शीघ्रगामी) (जीवम्) जीवन (चेतना) युक्त, (आपस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में (ध्रुवं) स्थिरता से (शये) निवास करता है, (मृतस्य) मृत प्राणी का (अमर्त्यो जीवो) वह अमर जीव (सयोनिःचरित) अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता है।

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जीव की स्वतन्त्र सत्ता (ईश्वर से पृथक्) है। वह अमर है, और अपने कर्मों के अनुसार अनेक योनियों मे (आवागमन की प्रथानुसार) आना जाता है। उपनिषदों में भी जीव का इसी प्रकार वर्णन किया गया है कि वह अमर है, किसी उपादान से उत्पन्न नहीं होता न उससे कुछ उत्पन्न होता है। वह शरीर में रहता है परन्तु शरीर के नष्ट हो जाने से नष्ट नहीं होता* इत्यादि।

प्रकृति

प्रकृति जगत् का उपादान-कारक (Material cause) है। वह तीन अवस्थाओं मे रहती है। १. कारणावस्था। इसी का नाम "सत्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था" है। महाप्रलय मे प्रकृति इसी अवस्था में रहती है।

---

* उपनिषद् का वाक्य इस प्रकार है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठोपनिषद् २। १८)

अर्थात् ज्ञानी जीव न उत्पन्न होता और न मरता है, किसी उपादान से उत्पन्न नहीं हुआ, न कोई उससे उत्पन्न हुआ। नित्य, अनादि, विकार-रहित और सनातन है। शरीर के नाश होने पर नष्ट नहीं होता।

महाप्रलय की समाप्ति पर जब सृष्टि बननी शुरू होती है तब प्रकृति का नाम "कृति" हो जाता है और फिर उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं (१) सूक्ष्मभूत (Latent state) स्थूलभूत (Patent state)। ब्रह्मांड में जो कुछ वस्तुएं देखी जाती हैं वे सब इन्हीं तीनों अवस्थाओं में रहनेवाली प्रकृति की विभूति हैं। मनुष्य के तीन शरीर भी इन्हीं तीन अवस्थाओं में रहनेवाली प्रकृति का फल हैं। कारणरूप प्रकृति जब जीवात्मा से सम्बन्धित होती है तब घटाकाश मठाकाशवत्, उसका नाम कारण शरीर हो जाता है। सूक्ष्म भूतों से मनुष्य का दूसरा "सूक्ष्म शरीर" और स्थूल भूतों से 'स्थूल शरीर' बना करता है। इन तीनों अवस्थाओं में रहने वाली प्रकृति ही को सांख्य के २५ तत्त्व में से २४ तत्त्व कहा गया है। जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) प्रकृति = (सत्व, रजः और तमः की साम्यावस्था — १

(२) सूक्ष्मभूत = महत्तत्व[१], अहंकार[२], पंचतन्मात्रा[७], मन[८] और दशेंद्रिय[१८] = — १८

(३) स्थूलभूत = आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी = — ५

योग २४

स्थूलभूतों से ही यह दृश्य जगत् बना हुआ है। स्थूलभूत (विकृति) केवल प्रकृति (Matter) नहीं है किन्तु प्रकृति और गति (Energy) के योग से स्थूलभूतों की प्रचलित अवस्था में प्रकृति विकृत होकर आ जाती है। प्रकृति में तो गति शून्यता (Inertia) है, परन्तु स्थूलभूतों के प्रत्येक अणु (Molecule) में कंपन (Vibration) है। यह वही गति है

जिससे महाप्रलय की शान्ति भंग होकर प्रकृति विकृत होकर सृष्टि रूप में परिणत हुआ करती है। इसी गति को विज्ञान की परिभाषा में शक्ति (Energy) कहा गया है। विज्ञान प्रकृति के साथ शक्ति को भी नित्य मानता है परन्तु शक्ति गुण है। बिना गुणी के गुण नहीं रह सकता। इसी लिए वेद ने इसे सर्वशक्तिमान् प्रभु का गुण बतलाया है जो "ईक्षण" से प्रकट हुआ करता है।

प्रकृति का नाम "माया" भी है। श्री शंकराचार्य्य के अद्वैत (माया) वाद में जब कहा जाता है कि माया से जगत् उत्पन्न होता है, तो माया का अर्थ अविद्या (Ignorance) किया जाता है। यह माया (अविद्या) कहां से आई? शंकर मत में इसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्मही को बतलाया जाता है। परन्तु माया (अविद्या) का उपादान-कारण आदि ब्रह्म है तो ब्रह्म में अविद्या की कल्पना करने से ब्रह्म का ब्रह्मत्व नष्ट हो जाता है। इसी लिए एकमात्र तत्व ब्रह्म को भी हाथ से खोने से पहले मायावादी माया और ब्रह्म सब को अनिर्वाच्य कह कर ब्रह्म की अविद्या का क्षेत्र (कारण) होने से रक्षा कर लिया करते हैं। परन्तु यह सब केवल इस लिए करना पड़ता है कि मायावाद माया को अविद्या बतलाता है। परन्तु उपनिषदों में स्पष्ट रीति से माया को प्रकृति कहा गया है *।

---

* श्वेताश्वतरोपनिषद का एक श्लोक इस प्रकार है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ श्वेता० ४। १०

अर्थात माया का तो प्रकृति जाने और (महेश्वरम) परमात्मा को (मायिनम) माया वाला जाने। उसके (अवयवभूतः) एक देशस्थ महाभूतों से यह सब जगत व्याप्त है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में थोड़े-थोड़े शब्द कहने के साथ वेद के पहले मन्तव्य (त्रित्ववाद) की कथा समाप्त होती है * ।

दूसरा मन्तव्य—चारों वेदों (ऋक्, यजु,साम और अथर्व) को ईश्वरीय ज्ञान मानना है अर्थात् चारों वेद, विद्या धर्मयुक्त

*त्रित्ववाद का सिद्धान्त जगत् व्यापी है । जिस प्रकार वेदों की अनेक शिक्षाएँ जब दूर दूर देशों में गईं तो उनके रूपों में कहीं थोड़ा और कहीं बहुत परिवर्तन हुआ । इसी प्रकार के परिवर्तन इस त्रित्ववाद के सम्बन्ध में भी हुए । उपनिषदों में इस (ईश्वर + जीव + प्रकृति) त्रित्ववाद के इलावा एक और त्रित्ववाद को वर्णन पाते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में (देखो १।६।३) इस दूसरे त्रित्ववाद के अंग नाम, रूप और कर्म वर्णित हुए हैं । नाम का उपादान वाणी, रूप का उपादान चक्षु और कर्म का उपादान आत्मा को बतलाते हुए कहा गया है कि "**तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा आत्मैकः सन्नेतत् त्रयम्**।" अर्थात् ये तीन होने पर भी एक ही आत्मा है और आत्मा एक होने पर भी यह तीन है । सो यह प्रकट ही है कि चक्षु, वाणी और आत्मा से उत्पन्न रूप नाम और कर्म आत्मा में ही समाविष्ट है ।

ताउमत में त्रित्ववाद—चीन के प्राचीनमत मतों में से ताउमत एक है । इसमें भी एक त्रित्ववाद का वर्णन है जिसके अंग (१) खि (Khi) (२) हि (Hi) (३) वि (wie) हैं, इनके अर्थ क्रमपूर्वक अरूप, अशब्द और अस्पर्श हैं । ये तीनों शब्द ईश्वर के विशेषण हैं । जिनका विस्तृत वर्णन कठोपनिषित् (३ । १५) मे मिलता है ।

रिमसैट (Remnsat) एक पश्चिमीय लेखक ने इस त्रित्ववादका यहूदी मत से सम्बन्ध करने का व्यर्थ यत्न किया है । उसने "खि" से 'ज' (J) 'हि' से 'ह' (H) और 'वि' से 'व' (V) निकालने का यत्न इस

ईश्वर प्रणीत होने से निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण हैं। वेद से भिन्न जितने ग्रन्थ हैं जिनमें उपवेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, ब्राह्मण, प्रातिशाख्य, आरण्यक और उपनिषदादि सभी ग्रन्थ सम्मिलित हैं ऋषि प्रणीत होने से परतःप्रमाण हैं। अर्थात् ये ग्रन्थ वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेद-विरुद्ध वचन हैं वे अप्रमाण हैं।

वेदवाद और विकासवाद

इस समय पृथिवी के मनुष्य दो भागों में विभक्त है। एक वेदवादी* हैं जो ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) को आवश्यक समझते हैं और दूसरे विकासवादी हैं जो इलहाम की ज़रूरत नहीं समझते और क्रमशः ज्ञान की

लिए किया है कि J+H+V से 'जहोवा' यहूदियों के देवता का वर्णन सिद्ध कर दे। परन्तु 'खि' से 'ज' निकालना तुकबन्दी ही है।

ईसाईमत का त्रित्ववाद—'पिता + पुत्र + पवित्रात्मा' प्रसिद्ध ही है।

कान्ट का त्रित्ववाद कान्ट ने अपने दर्शन में (१) ईश्वर (God) (२) मुक्ति Freedom (३) अमरता (Immortality) को अपने त्रित्ववाद का अंग बतलाया है इसको हम वैदिक त्रित्ववाद की छाप कह सकते हैं।

हैकल का त्रित्ववाद—हैकल जैसे जड़वादी (नास्तिक) वैज्ञानिक ने भी अपने जड़वाद (Materialism) में एक त्रित्ववाद की चर्चा की है। उसके त्रित्ववाद के अग (१) सत्य (the true) (२) भलाई (the good) और (३) सुन्दरता (the beautiful) हैं।

* वेदवाद यहां इलहाम के मानने वालों के 'इलहाम के मानने रूप-मत के लिये प्रयुक्त है।

वृद्धि मानते हैं। क्रमश· ज्ञान वृद्धि का मन्तव्य योरप में १६वीं शताब्दी में बहुत प्रतिष्ठित था, परन्तु अब २० वीं शताब्दी में उसका उतना मान नहीं रहा। विकासवाद में क्रमशः ज्ञान वृद्धि की कल्पना योनियों के विकास अर्थात् एक ही योनि से विकसित होकर बहुत-सी योनियाँ बन गईं, प्रमाण रहित और कल्पनामात्र है और यह कल्पना भी अधूरी है।

योनि विकास की कल्पना अधूरी है। विकासवाद में योनि-परिवर्तन का क्रम यह बतलाया जाता है कि प्रारम्भ में आदिम मत्स्य, फिर फेफड़े वाले मत्स्य, फिर जलचारी जन्तु मेंढक आदि सरीसृप और स्तन्यजन्तु। स्तन्य जीवों में अण्डज स्तन्य, फिर अजरायु पिण्डज (थैलीवाले) और जरायुज जन्तु। फिर किम्पुरुष जिनमें पहले बन्दर फिर वनमानस उत्पन्न हुए। पतली नाकवाले वनमानसों में पहले पूंछ वाले कुक्कुटाकार वनमानस हुए, फिर उनसे बिना पूंछवाले नराकार वनमानस हुए। इन्हीं नराकार वनमानसों की किसी शाखा के (जिसका अभी ज्ञान नहीं) वनमानसों में से गूंगे मनुष्य उत्पन्न हुए और फिर इन्हीं से बोलनेवाले मनुष्यों की उत्पत्ति बतलाई जाती है। विकासवादियों की सारी खोज जिसके आधार पर योनि परिवर्तन रूप विकासवाद का भवन खड़ा किया गया है, यह है कि जहां से रीढ़ की हड्डी रखने वाले (Vertebrated animal) जन्तु हुए हैं वहां से तो मनुष्यों तक की योनियों का क्रम (एक लुप्त कड़ी के सिवा) मिल जाता है परन्तु उसके पहले योनियों के क्रम (उद्भिदों से लेकर रीढ़ की हड्डी रखनेवाले जन्तुओं तक) का विकास-

वादियों को ज्ञान भी नहीं हैं। एक विद्वान् पश्चिमीय लेखक ने लिखा है कि प्रारम्भ (उद्भिदों) से मनुष्य योनि तक पहुंचने में अनुमान से ६७ लाख योनियां बीच की आती हैं। इनमें से कितने लाख योनियां रीढ़ की हड्डी बनने से पहले बीत चुकी हैं उनका ज्ञान विकासवाद को नहीं है। रीढ़ की हड्डी बनने के बाद से भी सब योनियों का हाल नहीं मालूम, कभी एक कड़ी लुप्त होती है कभी कुछ। ऐसी हालत में यह कल्पना अधूरी और सर्वथा अधूरी है।

गर्भवाद भी योनि परिवर्तन का साधक नहीं है

इस कल्पना की पुष्टि एक और तरह से हो जाती है और वह है गर्भवाद का आधार। कहा जाता है गर्भ में बालक का जो क्रम प्रारम्भ से अंत तक होता है वह योनि परिवर्तन का साधक है। परन्तु बात ऐसी नहीं हैं। वैदिक धर्म भी विकासवाद की पुष्टि करता है परन्तु वैदिक धर्म प्रतिपादित विकासवाद योनि परिवर्तन का समर्थक नहीं किन्तु पृथक् पृथक् योनियों के अन्तर्गत विकास होता है, इसका पोषक है। अर्थात् गर्भ की प्रारंभिकावस्था (गर्भस्थापना के प्रथम दिन) से ही विकास का प्रारम्भ होकर दसवें मास में बालक पूर्णता को पहुँच जाता है। उसके बाद जन्म दिन से युवा-वस्था तक विकासवाद समाप्त होकर ह्रासवाद का प्रारम्भ होता है। अर्थात् पुरुष जवानी के बाद बूढ़ा होने लगता है। इसलिए गर्भ की अवस्थाओं में योनि के परिवर्तन की पुष्टि नहीं होती किन्तु उसी विकासवाद की पुष्टि होती है जिसका वैदिक धर्म समर्थन करता है। वह बात कि गर्भ के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उन सब योनियों के रूप और आकार

पाये जाते हैं जिनमें होकर प्राणी मनुष्य-योनि तक पहुंचा है, कल्पनामात्र है और इसका मूल्य इससे अधिक नहीं जैसे एक ठूंठ (पत्ते और शाखा रहित वृक्ष) को सामयिक विचारों के दबाव से मनुष्य समझना। विकासवाद की इस कठिनता को विकासवादी भी अच्छी तरह अनुभव करते हैं। जर्मनी के एक प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्रवेत्ता अर्नेस्ट हैकल ने लिखा है "प्राणीवर्गोत्पत्ति-विद्या का विषय परोक्ष होने से अधिक कठिन है। उन क्रिया विधानों के धीरे धीरे होने में, जिनके द्वारा उद्भिदों और प्राणियों के नये वर्गों की क्रमशः सृष्टि होती है, लाखों वर्ष लगते हैं.................उन क्रिया-विधानों का परिज्ञान हमें अनुमान और चिन्तन द्वारा तथा गर्भ-विधान और निःशेष जीवों के भूगर्भस्थित अस्थि-पिंजरों की परीक्षा द्वारा ही विशेषतः होता है* ।"

फिर क्रमशः ज्ञान-वृद्धि की कल्पना कैसी ?

जब विकासवाद योनि परिवर्तन को ही सिद्ध करने में, उलझनों में पड़ा हुआ है तो इस अधूरी और अत्यंत अधूरी कल्पना के आधार पर क्रमशः ज्ञान वृद्धि की कल्पना तो और भी अधूरी कल्पना माननी पड़ेगी। इस अधूरी कल्पना से वेदवाद को कुछ हानि नहीं पहुँचती। बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक भी इस वेदवाद की पुष्टि करने लगे हैं† । अस्तु, वेदवाद और विकासवाद के तुलनात्मक विचार को यहीं छोड़ कर वेदवाद

*Riddle of Universe. p. 68.

† (क) डाक्टर वालेस ने क्रमशः ज्ञान-वृद्धि का खंडन करते हुए परिणाम यह निकाला है:—"There is, therefore no proof of continuously increasing intellectual power'.

के ही सम्बन्ध में कुछेक आवश्यक बातें लिखना चाहते हैं। वेदवाद भी दो भागों में विभक्त है।

वेदवाद के दो भाग

एक पक्ष यह कहता है कि मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता प्रारम्भ ही में होती और हो सकती है, जब कि मनुष्य केवल नैसर्गिक ज्ञान रखते और नैमित्तिक ज्ञान से शून्य होते हैं। वेद और उनका प्रचारक आर्यसमाज इसी वाद की पुष्टि करता है। दूसरा पक्ष यह कहता है कि समय समय पर ईश्वर मनुष्यों को ज्ञान दिया करता है। ब्रह्मसमाजादि इस दूसरे वाद के समर्थक हैं। इस दूसरे पक्ष के विरुद्ध आक्षेप यह है कि प्रथम तो ज्ञान की ज़रूरत प्रारम्भ ही में होती है और फिर ईश्वर, जिसे हम पूर्ण और सर्वज्ञ मानते हैं उसके लिए यह कल्पना करना कि उसने जगत् के प्रारम्भ में त्रुटि पूर्ण या अपूर्ण ज्ञान दिया कि जिसको पीछे से रद्द करने की आवश्यकता पड़ी, जैसा कि ईसाई और मुस-

---

(The Social Environment and moral progress by Dr. Wallace p. 8 to 26)

(ख) डाक्टर फ्लीमिंग ने वेद वाद की पुष्टि करते हुए यह लिखा है:-

"If we are to obtain more solid assurance it can not come to the mind of man groping feebly in the dim light of unassisted reason but only by a **communication made directly from the supreme mind to the finite mind of man**" (Science and Relegion by Seven men of Science.)

लमान कहते हैं, अथवा उससे कुछ वृद्धि करके उसमें अपूर्णता की पूर्ति करनी पड़ी, जैसा कि ब्रह्मसमाजी आदि कहते हैं, उसकी पूर्णता और सर्वज्ञता पर धब्बा लगाना है। अतएव वेदवाद का प्रथम पक्ष ही प्रबल और समर्थनीय है। स्वयं वेद और वेदांग आदि भी उसी का समर्थन करते हैं। उनमें से कुछेक प्रमाण यहां उद्धृत किये जाते हैं।

वेद और वेदवाद

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत* ॥

अर्थः—(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः) उस सर्वहुत यज्ञ से जिसका (इससे पहली ऋचाओं में वर्णन हो चुका है) (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (तस्मात) उससे (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न हुआ। फिर अथर्ववेद में एक मन्त्र इस प्रकार आया है:—

यस्मादृचो अपातक्षन्,
यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं,
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
(अथर्व० १०।७।२०)

* यह ऋचा ऋग्वेद मंडल १० सूक्त ९० की ९वीं ऋचा है। और इसी प्रकार बिना किसी अन्तर के यजुर्वेद अध्याय ३१ में आई है, (देखो मंत्र ७) और अथर्ववेद काण्ड १९ के छठे सूक्त मे भी है (देखो मंत्र १३)

अर्थः—"ऋचाएं (ऋग्वेद) जिससे निकली हैं, यजु (यजुर्वेद) जिससे उत्पन्न हुए हैं, साम जिसके लोम (रोमों के सदृश) अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) जिसका मुख है बताओ कि वह स्कंभ (ईश्वर) कौन है।"

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड के चौथे सूक्त में (देखो मन्त्र २६-३८) बहुत उत्तम रीति से वर्णन किया गया है कि ईश्वर ने जगत् की प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न किया है और यह कि वे उत्पन्न पदार्थ ईश्वर की सत्ता को (अपनी अपनी रचना द्वारा) प्रकट कर रहे हैं। वह वर्णन इस प्रकार का है:—

"वह दिन से प्रकट हुआ, उससे दिन प्रकट हुआ"
(मन्त्र २६)

"वह रात्रि से प्रकट हुआ, उस से रात्रि प्रकट हुई" (३०)

"वह अन्तरिक्ष से प्रकट हुआ, उससे अन्तरिक्ष प्रकट हुआ" (मं० ३१)

"वह वायु से प्रकट हुआ, उससे वायु प्रकट हुई" (३१)

इसी प्रकार द्यौ, पृथिवी, अग्नि, जल का (३३-३७) वर्णन करते हुए कहा गया है:—

"स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचोऽजायन्त।"

अर्थात् "वह ऋचाओं (वेदों) से प्रकट हुआ उससे ऋचाएँ प्रकट हुई।"

इस प्रकार अनेक मंत्र चारों वेदों में पाये जाते हैं जिनसे वेदों का ईश्वर प्रणीत होना स्पष्ट होता है। अब विचारणीय यह है कि वेदों का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ। ऋग्वेद का एक मन्त्र इस प्रकार है:—

बृहस्पते प्रथम वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
(ऋग्वेद मं० १० सूक्त ७१ म० १)

जिसका अर्थ यह है:—"हेबृहस्पते (वेद के स्वामी) सब से पहले, दूसरी वाणी से पूर्व (पूर्व वस्तुओं का नाम रखते हुए (ऋषि) जो उच्चारण करते हैं, वह इनकी (हृदय की गुफा = हृदयाकाश) में रखा हुआ प्रेम से प्रकट होता है।"

१. ईश्वर (वेद) वाणी का स्वामी है।

२. वह वाणी ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होती है।

३. उसी वाणी को ऋषि अपने हृदयों से निकाल कर उसके द्वारा, अन्य समस्त वस्तुओं के नाम आदि उच्चारण करते हैं।

वाणी (शब्द) में उस के साथ ही दो बातें होती हैं । एक शब्द का उच्चारण, दूसरा शब्द का अर्थ । उच्चारण और अर्थ दोनों को अर्थ के अन्तर्गत समझ कर उनका सम्बन्ध शब्द के साथ जोड़ा जाता है । यह सम्बन्ध और इसके साथ ही शब्द और अर्थ भी पूर्वमीमांसाकार की सम्मति में नित्य हैं। महाभाष्यकार पातञ्जलि भी इसकी पुष्टि करते हैं । इतना समझ लेने के बाद अब मन्त्र के भाव पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि वह नित्य ज्ञान जिसका नाम वेद या शब्दों का अर्थ है और जो शब्दों के साथ और शब्दमय हैं * ।

* ग्रीक फिलासोफर "डिमोक्रीटस" (Democritus) भाषा को मानवी रचना नहीं समझता था। उसको एक विद्वान् ने बतलाया था

ज्ञान प्रारम्भ में अन्य भाषाओं की उत्पत्ति से पहले, वाणी के स्वामी बृहस्पति द्वारा, ऋषियों के हृदय में उत्पन्न किया जाता है, और उसी के द्वारा ऋषि जगत् की वस्तुओं के नाम उच्चारण करते हैं ※। वह ज्ञान किस प्रकार ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होता है, इसका एक उदाहरण है। मनुष्य जब कोई बुराई करना चाहता है तो उसके हृदय में उस बुराई के लिए ग्लानि के भाव उत्पन्न होते हैं और जब अच्छे काम करना चाहता है तो उस के हृदय में उस अच्छे काम के लिए उत्साह पैदा होता है। इसी का नाम आत्म-प्रेरणा ((Conscience) है †। यह हृदय में उत्पन्न हुई प्रेरणा है, जिसे मनुष्य बिना किसी के मुंह से कहे और बिना अपने कानों से सुने हुए ही

※ "Words were statues in sound, but statues not made by the minds of men, but by the Gods themselves. (Science of language vol.,II.p.3963)

※ पाईथागोरस और प्लेटो भी भाषा को नित्य मानते थे। मैक्समूलर ने उपर्युक्त पुस्तक में सिद्ध किया है कि भाषा मनुष्य की रचना नहीं है। और यह कि भाषा से ज्ञान (अर्थ) और ज्ञान (अर्थ) से भाषा पृथक् नहीं किये जा सकते।

† पाईथागोरस आत्म-प्रेरणा को परमात्म-प्रेरणा कहता है:—

"But that there is a voice of conscience within us, the utterance of a divine law, independent of human statues and traditions, self evident, irrefragable. ? (Science of language by prof. M. Mutter vol.II- p 496)

अच्छी तरह से सुन और समझ लेता है। इसी उदाहरण के अनुसार "देव्य* ऋषियों" के हृदय में वेदों का ज्ञान बृहस्पति (परमेश्वर) द्वारा उत्पन्न होता है और उसे वे अच्छी तरह से समझ लेते हैं और फिर उसी को अन्यों पर प्रकट कर देते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है:—

"तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त।"(११।५८।३)

अर्थात—इन (अग्नि, वायु आदि) से (ईश्वर द्वारा) तप्त (प्रेरित) होने पर, तीन वेद प्रकट हुए। इसी बात की पुष्टि छान्दोग्योपनिषद् में भी की गई है:—

तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहद्।
अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्४।१७।२

अर्थात्—उन (ऋषियों से) तप्त होने पर रसों (सार--- तात्पर्य्य वेदों के ज्ञान से है) को निकाला- अग्नि ऋषि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और और आदित्य से सामवेद।

फिर बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है:—

स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ऋचो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि।१।२५॥

अर्थात्—"उस वाणी से (जिसका वेदमन्त्र में ऊपर वर्णन हो चुका है) और उस आत्मा से उस (ईश्वर) ने इन

* ऋषि दो प्रकार के होते हैं(१)-देव्य (२) श्रुत। देव्य ऋषि वे हैं जिनपर वेद प्रकट होते हैं, तथा जिनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा हैं। (२)"श्रुत ऋषि"वे हैं जो देव्य ऋषि या वेदों के ज्ञान प्राप्त करने से अपने को मन्त्रद्रष्टा बनाकर ऋषि बना लेते हैं।

सबको रचा, अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को।"

फिर इसी उपनिषद् में लिखा है कि:—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेद्यद् ऋग्वेदः ॥(४।५।११)

अर्थात ये ऋग्वेद आदि उस महान् प्रभु के श्वासवत् हैं।

एक ग्रीक विद्वान् की साक्षी

इस बात पर विचार करते हुए कि किस प्रकार प्रथम भाषा मनुष्य पर प्रकट हुई, इपीक्यूरस (Epicurus) ने प्रकट किया है कि "सब से प्रथम भाषा के प्रकट करने में ईश्वरीय प्रेरणा से मनुष्य ने अबोधता के साथ (अनजान से) काम किया। जिस प्रकार से वह (बिना इरादे के) खांसा, छींका या आह भरा करता है इत्यादि * ।

हेकल का मत इस की पुष्टि में

हैकल जैसे प्रकृतिवादी ने स्पष्ट रीति से कह दिया है कि यदि ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो उससे ज्ञान प्राप्त होने की बात स्वीकार कर लेने में कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं है। उसके शब्द ये हैं:—"They may or may not receive such information but there is no scientific ground for dogmatism on the subject, nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing."†

* Science of language vol. II. p, 398.

† Materialism by Darab Dinsha Kamag p. 52.

वेदों से वेदों की महिमा

वेदों के मन्तव्य संबन्ध में ऊपर विचार करने के बाद अब उनके भीतर भी देखना चाहिए कि वे स्वयं अपने लिए क्या कहते हैं। ऋग्वेदादि में अनेक स्थलों पर मंत्रों (वेदवाक्यों) की महिमा प्रकट की गई है। एक जगह लिखा है: **"मन्त्रो गुरुः"** अर्थात "मन्त्र गुरु (शिक्षक) है" *। फिर दूसरी जगह आया है: **"मंत्रेभिः सत्यैः"** अर्थात् "सच्चे मन्त्रों से + ।" फिर एक जगह है:— **"सत्यो मन्त्रः"** अर्थात् "सच्चा मन्त्र ‡ ।" इस प्रकार वेद वाक्यों को वेदों ने एक ओर यदि गुरु बतलाया है तो दूसरी ओर उनके सत्य होने का बखान किया है । फिर एक जगह लिखा है ।

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्र देवा अनेहसम् ॥

अर्थात्–"हे देवो ! (विद्वानों) हम यज्ञों में उस मन्त्र को कहें जो सुख देनेवाला और रहित (पाप से बचानेवाला) है §। फिर वेदों ने मनुष्यों को इन्हीं मन्त्रों के अनुसार आचरण करने की शिक्षा दी है और स्पष्ट कह दिया है कि इनके विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए।"

'नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मंत्रश्रुत्यं चरामसि'

अर्थात "हे विद्वानों ! न हम विरुद्ध करते हैं, न धोखा देते हैं, किन्तु जैसा मन्त्रों में बतलाया है वैसा आचरण करते हैं $ ।

*ऋग्वेद १ । १४७ । ४ ॥
\+ ,, १ । ६७ । ३ ॥
‡ ,, १ । १५२ । २ ॥
§ ,, १ । ४० । ६ ॥
$,, १० । १३४ । ७ ॥

वेदों की सब से बड़ी महिमा वेदों की शिक्षा है। वेदों में जहाँ लोकोन्नति के उच्च से उच्च साधन विमान, जहाज़ आदि बनाने का विधान है, जहां परलोकोन्नति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के साधन बतलाये गये हैं, वहाँ दूसरी ओर विज्ञान के उच्च से उच्च सिद्धान्तों का भी निरूपण किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रारम्भ में (देखो चौथा सूक्त) इन्द्र (बिजली) की महिमा और कार्य वर्णन किये गये हैं जिनके आधार पर यास्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है: -

"या का च बलकृतिरिन्द्र कर्मैव तत् ।"

अर्थात् जो कुछ काम बल का है वह इन्द्र (विद्युत) ही की महिमा है * इत्यादि इत्यादि ।

वेदों की शिक्षा सार्वभौम शिक्षा है।

क्यों वेदों की शिक्षा के लिए कहा जाता है कि सार्वभौम शिक्षा है? उसका कारण भी वेदों की शिक्षा का प्रकार ही है। वेदों की दो शिक्षाओं का हम यहां वर्णन करेंगे जिससे वेदों की शिक्षा का प्रकार प्रकट हो जाय:—

पहली शिक्षा—जिसको स्वच्छ वैदिक धर्म कहा जा सकता है यह है कि "मनुष्य ज्ञान उपलब्ध करे और उसके अनुकूल आचरण करता चला जाय।" वेदों ने इस शिक्षा को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है:—

---

* यही शिक्षा आज विज्ञान दे रहा है—कार्ले सिन्डर ने लिखा है कि Ultimate Cause of muscular action and not unprobably of all life process is electricity. (New conceptions in Science by Carl Sinder. p. 209.)

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬंरताः ॥९॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयᳬंसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

(यजुर्वेद अध्याय ४)

इन मन्त्रों का अर्थ यह है कि "अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो (केवल) कर्म का सेवन करते हैं और उससे भी अधिक अन्धकार में वे हैं जो (केवल) ज्ञान में रत हैं ॥९॥ कर्म का फल और कहते है और ज्ञान का और, ऐसा हम धीर पुरुषों से सुनते हैं जो हमको उपदेश कर गये हैं ॥१०॥ सिद्धान्त यह है कि "कर्म और ज्ञान को जो कोई साथ-साथ काम में लाते हैं अर्थात् ज्ञान उपलब्ध कर के उसके अनुकूल आचरण करते हैं, वह कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमरत्व को प्राप्त करते हैं । ११ ।" कैसा उत्तम उपदेश है ! यदि तुमने एक शिक्षा प्राप्त कर ली और उसके अनुकूल आचरण नहीं करते, तो वेद कहता है कि तुम अन्धकार में हो । यदि तुम बिना ज्ञान प्राप्त किये अज्ञानपूर्वक क्रिया करते हो, तो भी अन्धकार में हो क्योंकि कर्म और ज्ञान दो पृथक पृथक् फल देने वाली वस्तुएँ हैं । यदि तुम ज्ञान प्राप्त कर के उसके अनुकूल कर्म (आचरण) करते हो तभी तुम्हारा पुरुषार्थ सफल हो सकता है, और तुम मृत्यु के पार हो सकते हो । तभी तुम्हारा यह पुरुषार्थ वैदिक धर्म कहा जा सकता

है। यह शिक्षा है जो मनुष्यमात्र को एक जैसा लाभ पहुंचा सकती है। यह शिक्षा है जिसकी प्रत्येक काल के लिये एक जैसी उपयोगिता है। जगत् के प्रारम्भ में इसी बात की ज़रूरत थी कि मनुष्य ज्ञान उपलब्ध करके उसे आचरण में लावे, अब भी इसी की आवश्यकता है और लाखों वर्ष के बाद आने वाले समय में भी इसी की उपयोगिता होगी। इसी लिये वेदों को प्रत्येक काल के लिए उपयोगी (Upto-date) कहते हैं। एक और भी रहस्य है जो इस शिक्षा में विहित है। और वह यह है कि वेदों ने ज्ञान और कर्म का उद्देश्य बतला दिया है कि मृत्यु से पार करने वाले अर्थात् मृत्यु के सब से बड़े बन्धन से स्वतन्त्र करने वाले हैं।

पश्चिम की सारी उन्नति का आधार "साइन्स" और "आर्ट" है। "साइन्स" किसे कहते हैं, और आर्ट क्या है। "इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटैनिका" के शब्दों में Science consists in Knowing" और "Art consists in doing" अर्थात् "साइन्स" ज्ञान और "आर्ट" कर्म ही का नाम है, परन्तु पश्चिम के कर्म और ज्ञान (Art & Science) क्यों इस समय विषैली गैसें बनाकर मनुष्यों के वध करने का सामान एकत्र कर रहे हैं* इस लिये कि उनका कोई उद्देश्य नहीं है। इसी

* अमेरिका के Chemical Deptt. of warfare ने अनेक गैसे खोजो है (देखो Report of the American chemical warfare Service for 1918-20) एक गैस है जिसे यदि ३-४ हवाई जहाज़ों के छोटे बड़े से लंडन के ऊपर छोड़ा जाय, तो ७५ लाख के लगभग आबादी रखने वाला पृथिवी मे सबसे बड़ा नगर ३ घण्टे के भीतर नष्ट हो सकता है। इस प्रकार की गैसे, प्रति सप्ताह कई टन तैयार

लिए वे मृत्यु के बन्धन से छुड़ाने के स्थान में उस बन्धन को और दृढ़ करते हैं। इसी लिये कहा जाता है कि पश्चिमीय सभ्यता असफल हुई और अब उसका स्थान पूर्वीय (वैदिक) सभ्यता को देना चाहिये। "वेदों की ओर चलो" (Back to the Vedas) का भाव भी यही है कि प्रथम जीवनोद्देश्य की खोज करके तब जीवन संग्राम का प्रारम्भ करो—

इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिए? वेदों ने इस प्रकार ज्ञान और कर्म की शिक्षा देते, और उनका उद्देश्य बतलाते हुये यह भी निश्चय कर दिया है कि उनका साधन क्या है ? इसके लिये हम तीन मन्त्रों को यहां उद्धृत करते हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳪरताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयᳪ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥
(यजुर्वेद ४०)

करके प्रायः सभी सभ्य कहलानेवाले देशों में, जमा की जाती है जिससे उन्हें भावी युद्ध में काम में लाया जाय और वर्षों के स्थान में सप्ताह और दिनों में ही लाखों करोड़ों मनुष्यों का संहार किया जा सके। एक गैस अभी हाल (मार्च १९२४ ई०) में जर्मनी देश में तैयार की जा रही थी और आठ वैज्ञानिक उसकी तैयारी में लगे हुए थे। गैस तैयार हो गई परन्तु किसी असावधानी से कुछ पात्र से निकल कर बाहर हवा में निकल मिल गई जिससे वे आठों वैज्ञानिक देखते ही देखते मृत्यु का ग्रास बन गए।

अर्थः—वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो (केवल) कारण* शरीर से काम लेते हैं। उससे भी अधिक वे अंधकार में हैं जो (केवल) कार्य्य (सूक्ष्म+स्थूल) शरीर का सेवन करते हैं ॥१॥

कारण और कार्य्य शरीर दोनों का फल पृथक् पृथक् है। ऐसा धीर पुरुषों से हम सुनते हैं ॥२॥

(सिद्धान्त यह है कि) कारण और कार्य दोनों प्रकार के शरीरों से जो साथ साथ काम लेते हैं, वे कारण-शरीर के द्वारा मृत्यु के पार होते और कार्य-शरीर द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य ३ प्रकार का शरीर रखता है। (१) कारण शरीर। (२) सूक्ष्म-शरीर जो १७ वस्तुओं का समुदाय है। (१० ज्ञान+कर्म्मेन्द्रिय+५ प्राण+२ मन और बुद्धि। (३) स्थूल शरीर जो ५ स्थूल भूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) का समुदाय है।

स्थूल शरीर के विकसित होने से मनुष्य के शरीर में बल आता है, इन्द्रियां दृढ़ होती हैं। सूक्ष्म शरीर के विकास का फल मानसिकोन्नति है और कारण शरीर के उन्नत होने से आत्मिकोन्नति होती है। मनुष्य की उन्नति के लिये, तीन प्रकार की उन्नति का होना आवश्यक है। इसी लिए वेद ने

*"असंभूति" कारणरूप प्रकृति को कहते हैं परन्तु जब कारण रूप प्रकृति आत्मा से सम्बन्धित होती है (इन मन्त्रों का देवताऽविषय आत्मा है) तब उसका नाम (घटाकाश, मठाकाशवत्) कारण शरीर होता है। इसी प्रकार संभूति (कार्यरूप प्रकृति) जब आत्मा से सम्बन्धित होता है तब उसका नाम स्थूल और सूक्ष्म शरीर होता है।

शिक्षा दी कि तुम तीनों प्रकार के शरीरों की उन्नति करो, जिससे तीनों प्रकार के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल प्राप्त हों। असन्दिग्ध शब्दों में कह दिया कि यदि एक को छोड़ कर केवल दूसरी शारीरिकोन्नति की चेष्टा करोगे तो इसका अच्छा फल नहीं हो सकता, अर्थात् अंधकार में प्रवेश करना पड़ेगा। मनुष्य के ये तीनों शरीर ही उसके कर्म और ज्ञानवाले सिद्धान्त की पूर्ति का साधन हैं। इन्हीं से लोक परलोक दोनों प्रकार की अधिक से अधिक उन्नति हो सकती है।

दूसरी शिक्षा—जिसका हम उल्लेख करना चाहते हैं, यह है कि वेद चाहते हैं कि जगत् में परस्पर अधिक से अधिक प्रेम का व्यवहार हो और कोई भी प्राणी किसी दूसरे को कष्ट न पहुँचावे। और प्रत्येक मनुष्य सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझे। इस शिक्षा का प्रकार प्रकट करने के लिये कुछेक वेदमन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋग्वेद १०।१९।१।२।)

अर्थः—(हे मनुष्यो!) तुम साथ साथ मिल कर चलो, अर्थात तुम्हारे चलने का मार्ग एक हो, तुम्हारी भाषा एक हो, तुम्हारा मानसिक ज्ञान एक सा हो जैसे पहले विद्वानों ने एकमत हो कर धर्म और ऐश्वर्य का सेवन किया है। (वैसा ही तुम भी करो)।

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

(ऋग्वेद १० । १६१ । ३)

अर्थात्— तुम्हारा मन्त्र समान हो, सभा समान हो, तुम्हारा मन एक हो और चित्त (विचार) एक हो । एक ही मन्त्र तुम्हारे लिये उपदेश करता हूँ, एक ही यज्ञ तुम्हारे लिये नियत करता हूँ ।

समानीव व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १० । १११ । ४)

अर्थात्—तुम्हारा इरादा एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारा शुभ मेल सदा बना रहे ।

मनुष्यमात्र के लिए उपर्युक्त वेदोपदेश हैं, इसमें किसी प्रकार का भेद-जाति-रंग आदि का -नहीं किया गया है । अब जाति के सिवाय परिवारो में भी मनुष्यों को किस प्रकार से वर्तना चाहिये, इसकी शिक्षा निम्न मन्त्रों में दी गई है:—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः,
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(अथर्ववेद ३ । ३० । १)

अर्थात्— (हे मनुष्यो !) तुम्हारा कर्तव्य, परस्पर के द्वेष से रहित, समान विचारों से युक्त बनाता हूँ । तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो, जिस प्रकार गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

(अथर्ववेद ३ । ३० ।)

अर्थात्--पुत्र पिता के अनुकूल कर्मों वाला हो और माता के साथ भी मेल रक्खे । पत्नी पति के लिए ऐसी वाणी बोले जो शहद भरी हुई हो और शान्ति पूर्ण हो ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३ । ३ । ३)

अर्थात्—भाई भाई से द्वेष न करे, बहन से बहन द्वेष न करे । एक दूसरे के साथ मिल कर एक दूसरे के अनुकूल कर्मों वाले होकर, कल्याण लाने वाली वाणी के साथ बातचीत करो ।

समानी प्रपा सह वोन्नभागः योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं मपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

(अथर्व० ३ । ३० । ६)

अर्थात् तुम्हारा जलाशय (कुआँ आदि) एक हो और अन्न का भाग साथ-साथ हो, एक ही जुए में तुमको साथ-साथ मैं जोड़ता हूँ । तुम सब (मनुष्य मात्र) मिल कर अग्नि* का सेवन करो, जैसे अरे रथ की नाभि के चारों ओर हुआ करते हैं ।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

(अथर्व० ३ । ३० । ७)

* अग्नि को कला कौशल के काम लाओ । अथवा अग्निहोत्र करो ।

अर्थात्—एक दूसरे को वश में करनेवाले प्रेम के साथ मैं तुम सबको साथ चलनेवाला, समान मतवाला और एक नेतावाला बनाता हूँ, देवताओं की तरह अमृत की रक्षा करते हुए तुम रहो। सायं-प्रातः अर्थात् सदैव तुम्हारे भाव एक दूसरे के अनुकूल हों।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये॥

(अथर्व १६। ६२। १)

अर्थात्—"मुझे ब्राह्मणों में प्यारा बना, मुझे राजाओं (क्षत्रियों) में प्यारा बना, वैश्य, शूद्र सब देखनेवाले (प्राणीयों) का प्रिय कर" इत्यादि।

यदि इस वेद शिक्षा के अनुकूल मनुष्य चलने लगें तो संसार कलह के स्थान में शान्तिधाम बन सकता है। हमने यहाँ केवल गिनती के नौ मन्त्रों को उद्धृत किया है। इस प्रकार के मंत्रों से वेद भरा हुआ है, उनका स्वाध्याय करने से ही पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

तीसरा मन्तव्य"—मोक्ष और बन्धन के सम्बन्ध में है। "मुक्ति (मोक्ष) तीनों प्रकार के दुःखों से छूटकर बन्धन-रहित होने को कहते हैं। इसके विरुद्ध 'बन्धन' दुःखों से ग्रस्त होने का नाम है। मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, विद्या-प्राप्ति, ब्रह्मचर्य का सेवन और सत्संग आदि हैं।"

किसी प्रकार के भी बन्धन का न रहना अर्थात् स्वाधी-

नता को प्राप्त कर लेना जिससे बढ़ कर कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती मुक्ति कहलाता है। इसके साधन, जो ऊपर वर्णन किये गये हैं, उन्हें थोड़ा स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है :—

पहला साधन ईश्वरोपासना है। ईश्वरोपासना क्यों करनी चाहिए इसे लोग नहीं समझते। कोई कोई पूछा करते हैं कि ईश्वर को क्यों हमारी उपासना की ज़रूरत है? कोई कोई कहते हैं ईश्वर ने अपनी ज़िन्दगी (इबादत) करने ही के लिए फ़रिश्तों और मनुष्यादि को उत्पन्न किया—इत्यादि। परन्तु वेदों की शिक्षा इन सबसे सर्वथा भिन्न है। ईश्वरोपासना मनुष्य की उन्नति का एक मुख्य साधन है। ईश्वरोपासना से मनुष्य की उन्नति किस प्रकार हो सकती है—यही बात समझ लेने के योग्य है।

ईश्वरोपासना का प्रारम्भिक रूप यह है कि मनुष्य संध्या, गायत्री तथा अन्य मन्त्रों के द्वारा, जिनमें ईश्वर के गुणों का वर्णन किया गया हो, ईश्वर के गुणवाचक नामों का जप करे। जप वाणी और मन दोनों को इच्छित काम में लगाने को कहते हैं*। इससे मनुष्य का अपने मन पर अधिकार होता है और उसमें योग्यता उत्पन्न होती है कि मन को जिस काम में चाहे वह लगा सके। इस प्रारम्भिक

* योगदर्शन मे पतञ्जलि मुनि ने कहा—

"तस्य वाचकः प्रणवः ॥" "तज्जपस्तदर्थभावनम् ।"

अर्थात् ईश्वर का नाम "ओ३म्" है। उसका जप (वाणी से) और उसके अर्थ का चिन्तन (मन मे) करना चाहिए।

उपासना के साथ मनुष्य को योग के प्रारम्भिक चार अंगों का भी सेवन करना चाहिए । जिनमें से योग के प्रारम्भिक दो अंगों के सेवन का प्रकार यह होना चाहिए कि समय-समय पर उनका चिन्तन करता रहे और उनसे अपने समस्त कार्यों को प्रभावित करने का यत्न करता रहे। योग के पहले और दूसरे अङ्ग यम और नियम हैं, जिनमें यह पाँच-पाँच बातें वर्णित हैं :—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (मोह रहित होना) "यम" कहलाते हैं । शौच, सन्तोष (कर्म में सन्तोष करना आलस्य कहलाता है, हाँ, कर्म करके फल में सन्तोष करने का नाम सन्तोष है) तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर-भक्ति) का नाम "नियम" हैं । तीसरा साधन "आसन" है, जिसके अभ्यास से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति होती है। चौथा साधन प्राणायाम है । इससे मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पूर्ण स्वस्थता प्राप्त होती है* ।

ईश्वरोपासना का मध्य साधन—चित्त का एकाग्र करना है । इसके लिए उपासक को "प्रत्याहार और धारणा" (योग के पाँचवें और छठे अङ्गों का नाम है) को प्रयोग में लाना चाहिए। इन अङ्गों से सम्बन्धित अभ्यासों के करने से चित्त की एकाग्रता की सिद्धि होता है, जिससे मनुष्य में वह

---

* प्राणायाम के लाभों और विधि के जानने के लिए देखो ग्रन्थ कर्ता रचित "प्राणायाम-विधि।"

योग्यता आती है जिससे वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों को समझ लेता है, कठिन-से-कठिन प्रश्नों को हल कर देता है।

प्रत्याहार—फैली हुई मानवी शक्ति के एकत्र करने को कहते हैं। और **धारणा** उस एकत्रित शक्ति को किसी एक विषय या स्थान में लगा देने का नाम है।

ईश्वरोपासना का अन्तिम साधन—योग के अन्त के अंगों "ध्यान" और "समाधि" के अभ्यासों* का सिद्ध करना है। एकाग्र की हुई शक्ति को स्थान विशेष पर न लगा कर आत्मा में लगा देने का नाम 'ध्यान' है और इसी आत्मरत होने की उत्कृष्ट अवस्था का नाम 'समाधि' है। यह पहला और सर्वोत्तम साधन मनुष्य के लिए सांसारिक दुःखों और बन्धनों से छूटने का है।

ध्यान के सम्बन्ध में साधारण पुरुषों का ज्ञान भ्रम-पूर्ण है। वे कहते हैं कि जब ईश्वर निराकार है, उसकी कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं तो किस प्रकार उसका ध्यान किया जाय। उन्होंने किसी वस्तु के विचारादि को मन में लाने का नाम ध्यान समझ रखा है परन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। मन में किसी वस्तु के विचारादि लाने का नाम ध्यान नहीं किंतु मन से सब कुछ निकाल देने का नाम ध्यान है। इसीलिए सांख्य के आचार्य कपिल ने ध्यान की परिभाषा **"ध्यानं निर्विषयं मनः"** की है। अर्थात् मन को सर्व विषय रहित कर लेना ध्यान है। मनुष्य का मन जागृत या स्वप्न में सर्व विषय रहित नहीं होता। हाँ, वह स्वप्नावस्था में

* इन अभ्यासों को जानकारों से सीखना चाहिए।

अवश्य सर्व विषय रहित हो जाता है। इसी लिए जागृतावस्था में सुषुप्ति के सदृश, मन का सर्व विषय रहित हो जाना ध्यान कहा जा सकता है। परन्तु यह योग का सातवाँ अंग है। प्रारम्भ में इसकी प्राप्ति की इच्छा सर्वथा अनुचित है।

ईश्वरोपासना के भेद और उनके फल—ईश्वर के गुणों की दृष्टि से ईश्वरोपासना के भेद हैं—(१) सगुण उपासना (२) निर्गुण-उपासना।

सगुणोपासना—ईश्वर को न्यायकारी, दयालु, सर्व शक्तिमान्, सच्चिदानन्दस्वरूप आदि गुणों से युक्त मान कर उसकी उपासना करना सगुणोपासना और जरा, मृत्यु, पाप आदि से रहित मान कर उपासना करना निर्गुणोपासना कहलाती है। दोनों का फल आनन्द की प्राप्ति है। परन्तु आनन्द के दो भेद हैं। ऋणात्मक (Negative) आनन्द जिसे शान्ति भी कहते हैं—निर्गुणोपासना का फल है। इसमें मनुष्य को कुछ प्राप्त नहीं होता। किन्तु उससे कुछ छूटता है और उसी छूटने से जो प्रसन्नता होती है, उसी का नाम शान्ति या ऋणात्मक आनन्द है। उपनिषद् में कहा गया है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवंनिचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

(कठोपनिषद् ३। १५)

अर्थात्—ईश्वर जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगंध, अनादि, अनन्त और निश्चल आदि गुणों से युक्त है, का निश्चात्मक ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु के मुख

से छूटता है। इसी का नाम ऋणात्मक आनन्द (शान्ति) की प्राप्ति है।

(२) धनात्मक (Positive) आनन्द—यह सगुणोपासना का फल है। इसमें मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है। उपनिषद् में कहा गया है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषांसुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥

(कठो० ५ । १२)

अर्थात्— जो एक सबको वश में रखनेवाला, सर्वव्यापक और जो एक रूपवाली प्रकृति को अनेक रूपों में कर देता है, उस आत्मा के भीतर रहने वाले ईश्वर को, जो धीर पुरुष ध्यानावस्थित होकर प्राप्त करते हैं, उन्हीं को चिरकाल तक रहने वाले आनन्द की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनन्द है।

ईश्वरोपासना के साधन ईश्वर की प्रार्थना और स्तुति भी हैं।

प्रार्थना से इच्छा-शक्ति का विकास होता है। स्तुति ईश्वर के गुणगान का नाम है। इसी को बार बार मन में लाने का नाम जप है।

दूसरा साधन—धर्मानुष्ठान है। धर्म कर्तव्य-कर्म (Duty) को कहते हैं। उसकी पूर्त्ति धर्मानुष्ठान कहलाती है। उपनिषद् में धर्म और सत्य पयर्यावाचक शब्द के तौर पर प्रयुक्त होते हैं जैसा कहा जा चुका है। अर्थात् सत्याचरण का नाम ही धर्माचरण है।

तीसरा साधन—विद्या-प्राप्ति है। विद्या उसको कहते है, जिससे सत्यासत्य का विवेक हो। विद्या ही से मनुष्य सत्य को जान कर उसके अनुकूल आचरण किया करता है*।

चौथा साधन—ब्रह्मचर्य का सेवन है। ब्रह्मचर्य संयम के साथ रहने का नाम है। संयम से रहने का फल यह होता है कि मनुष्य में तीनों प्रकार की—आत्मिक, मानसिक और शारीरिक—शक्ति उत्पन्न होती है, और वृद्धि को प्राप्त होती है। विद्या-प्राप्ति का आवश्यक साधन ब्रह्मचर्य का सेवन है।

पाँचवाँ साधन—सत्संग है। सत्संग ही से उपर्युक्त साधनोंकी सिद्धि होती है।

चौथा मन्तव्य—आवागमन है। कर्म-फलानुसार जीव के एक शरीर को छोड़ कर दूसरे में जन्म लेने का नाम आवागमन है। जितनी भी योनियाँ हैं वे एक प्रकार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त हैं—(१) एक कर्तव्य और भोक्तव्य। (२) केवल भोक्तव्य। मनुष्य-योनि पहले भाग में है, अर्थात् इस योनि में मनुष्य कर्म करता भी है और भोगता भी है। शेष पशु-पक्षी से लेकर स्थावर योनि पर्यन्त सभी भोक्तव्य योनियाँ हैं। अर्थात् जीव केवल फल भोगने के लिए इन योनियों में जाया करता है। अर्थात् वैदिक धर्म में दण्ड-विधान वैज्ञानिक और उच्च कोटि का है। दण्ड का भाव यह नहीं है कि मनुष्य

* मुक्ति न केवल कर्म का फल है और न केवल ज्ञान का। किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय से प्राप्त होती है। इसलिए दूसरा साधन कर्म से सम्बन्धित है और तीसरा ज्ञान से।

को केवल कष्ट भोगना पड़े, बल्कि मुख्यता दण्ड-विधान में यह होती है कि प्राणी का सुधार हो जाय । मनुष्यता चाहती है कि शरीर, जो ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का समुदाय है, जीवात्मा के आधीन और अधिकार में रहे, परन्तु जीव संसार के प्रलोभनों में पड़ कर अपनी स्वतन्त्रता खो कर इन्द्रियों के आधीन हो जाता है। (यही उसका पाप-कर्म और अधर्माचरण है) तब आवागमन के द्वारा उसका सुधार होता है। कल्पना करो कि एक प्राणि ने चक्षु के आधीन हो कर इस अंश में उसने अपनी स्वतन्त्रता खो दी है, तो उसको चक्षु-रहित योनियों में उतनी अवधि के लिए जाना पड़ेगा, जितनी अवधि उसके सुधार के लिए आवश्यक है, जिससे उन योनियों में आंख का काम बन्द रहने से बुरा अभ्यास जो आँख से पाप करने का पड़ गया है, छूट जाय । जब वह पाप छूट कर प्राणी से चक्षु का दासत्व चला जाता है, और जीव का फिर चक्षु पर अधिकार हो जाता है, तब वह फिर स्वतन्त्रता से कर्म करने के लिए मनुष्य-योनि में उसी प्रकार वापिस आजाता है, जैसे कोई अपराधी जेलख़ाने से छूट कर फिर स्वतन्त्र हो जाता है। परन्तु जब प्राणी की इतनी अधिक अधम अवस्था हो जाती है कि प्रत्येक इन्द्रिय से पाप करके सबको सुधार के योग्य बना देता है, तब उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ क़ैद हो जाती हैं और जीव सम्पूर्ण इन्द्रिय रहित योनियों (स्थावर योनियों से तात्पर्य है) में भेज दिया जाता है और उपर्युक्त प्रकार से उसकी सब इन्द्रियों का सुधार हो कर वह फिर मनुष्य-योनि में कर्म करने के लिए आ जाया करता है। यह सुधार-कार्य आवागमन के द्वारा उस समय तक बराबर जारी रहती है, जब तक मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता

रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं कर लेता। "मरने के बाद शरीर के नष्ट होने पर कुछ बाकी रहता है या नहीं ?" नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यम ने उसको यही उपदेश किया था कि:—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

(कठो० ५ । ६, ७)

अर्थात्—मरने के बाद, शरीर के नष्ट हो जाने पर जो जीव बाकी रहा करता है, उसकी क्या गति होती है, यह बात अब कही जाती है। एक प्रकार के प्राणी शरीर ग्रहण करने के लिये जंगम (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) योनियों में जाते हैं और दूसरे स्थावर (वनस्पति आदि) योनियों को प्राप्त होते हैं। यह आवागमन उनके ज्ञान और कर्म के अनुसार हुआ करता है।

आवागमन की यह शिक्षा मनुष्य को एक बड़ा अमूल्य पाठ सिखलाती है, और वह है प्रसन्नता से कष्टों का सहन करना। क्योंकि प्रत्येक कष्ट मनुष्य का भविष्य सुधारने और उसके सिर से पापों का बोझ हलका करने के लिये आया करता है। इसी लिये एक उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य जो रोग के कष्ट को सहन करता है, यह उच्च कोटि का तप है*।

* बृहदारण्यकोपनिषद् ५ । ११ । १ ॥

पांचवां मन्तव्य—वर्णाश्रम से सम्बन्धित है। वर्ण और आश्रम गुण और कर्म की योग्यता से माने जाते हैं।

आश्रम—योग्यता सम्पादन करने और जीवनोद्देश्य सफल करने के लिए मनुष्य की आयु चार भागों में विभक्त है:—(१) ब्रह्मचर्य (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ (४) संन्यास इन्हीं को आश्रम कहते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम—आयु का सब से बड़ा भाग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य-काल शिक्षा और दीक्षा प्राप्ति के लिए नियत है। शिक्षा जिसको अन्य भाषाओं में 'तालीम' और Education* कहते हैं, आत्मिक शक्तियों के विकास करने को कहते हैं। दीक्षा (तरवियत) = (Instruction) बाहर से ज्ञान प्राप्त कर के भीतर एकत्र करने का नाम है। मनुष्य का शरीर तीन प्रकार के परमाणुओं से बनता है। (१) सत्व (२) रजस् (३) तमस् इनमें से तम अन्धकार (Ignorance) को कहते हैं। मनुष्य शरीर में जब "तमस्" परमाणु बढ़ जाते हैं तब अन्तःकरण पर अन्धकार का आवरण आ जाता है, जिससे मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होता, किन्तु उसी अन्धकार के आवरण (परदे) से अन्धकार की ही किरणें निकल कर उसे मूर्ख बनाया करती हैं।

* लैटिन के Eduoo से बना है। E = out+duce = to draw अर्थात् भीतर से बाहर को खींचने को Education कहते हैं। इसी प्रकार Instruction लैटिन के Instruo शब्द से बनता है। In = भीतर+Struo = to collect संग्रह करना अर्थात् बाहर से ज्ञान ला कर भीतर जमा करना।

"रजस्" अनियमित कर्तृत्व (Undisciplined activity) को कहते हैं। नियमित कर्तृत्व को ही धर्म और अनियमित कर्तृत्व को ही अधर्म कहते हैं। जब "रज" के परमाणु मनुष्य में बढ़ जाते है तब यह भी आवरण रूप होकर आत्मिक शक्तियों के विकास में बाधक होते हैं और बाहर विषय-भोग की कामना में प्रकट हुआ करते हैं।

'सत्व' प्रकाश को कहते है। जब सत्व के परमाणु मनुष्य में बढ़ते हैं तब अंतःकरण में प्रकाश की मात्रा बढ़ती है जिससे सुगमता से आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। इस लिए शिक्षा प्राप्ति के लिए मनुष्य का कर्तव्य यह हुआ कि तम को दूर रज, को नियमित और सत्व की वृद्धि करे। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए शक्ति (Energy) अपेक्षित होती है। यह शक्ति ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है। इस लिए शिक्षा के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य से शक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है, इसका उत्तर यह है कि मनुष्य-शरीर में जब भोजन कई कार्यों के बाद रेत (Albumen) में परिणत होता है और सुरक्षित रहता है तब उसमें क्रमश अग्नि, विद्युत, ओज, गुण आते हैं। अन्त में वह वीर्य के रूप में हो जाता है। यही वीर्य शक्ति का केन्द्र है। इसी से सम्पूर्ण शारीरिक और आत्मिक शक्ति उत्पन्न हुआ करती है। इसी वीर्योत्पत्ति और उसके सुरक्षित रखने की कार्य-प्रणाली का नाम ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार मनुष्य को अपने जीवन के पहले भाग में जिसकी न्यून-से-न्यून अवधि २५ वर्ष है, ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा और दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यही ब्रह्मचर्याश्रम का कर्तव्य-विधान है।

गृहस्थाश्रम—में मनुष्य को नियमपूर्वक विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करनी और जीविका भी उपलब्ध करनी चाहिए और सन्तान को अपने से अच्छा बनाने का यत्न करना चाहिए।

वानप्रस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम में रहने से जो विकार मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, उनको दूर करके अपने को ब्रह्मचर्याश्रम वालों की भांति स्वच्छ बना लेना, इस आश्रम का मुख्योद्देश्य है। यही आश्रम सन्यासाश्रम में जाने की तैयारी का काम दिया करता है।

सन्यासाश्रम—मनुष्य को अंत में संन्यास आश्रम में आकर मुक्ति—प्राप्ति के साधनों को काम में लाते हुए जगत के सुधार का भी यत्न करना पड़ता है।

वर्ण—समाज को उत्तम रीति से संगठित रखने, समता के भावों को कार्यरूप देने और जीविका उपलब्ध करने के लिये "श्रम विभाग" (Division of labour) के वैज्ञानिक सिद्धान्त पर वर्ण बनाये गये हैं। गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध जीविका-उपलब्धि से है। इसलिये यह आश्रम चार विभागों में बांट दिया गया है और इसी विभाग का नाम वर्ण है। जो मनुष्य वेद पढ़ा, यज्ञ करा, और दान लेकर जीविका उपलब्ध करे उसका नाम ब्राह्मण। जो राज्य-सम्बन्धी कार्य्यों से वृत्ति प्राप्त करे उसे क्षत्रिय। जो पशु-रक्षा, व्यापार, कृषि आदि का व्यवसाय करे उसे वैश्य। और जो केवल

शारीरिक परिश्रम से धन प्राप्त करे, उसे शूद्र कहते हैं* ।

छठा मन्तव्य—संस्कारों से सम्बन्धित है । संस्कार उसे कहते हैं, जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवें। निषेक (गर्भाधान) से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त १६ संस्कार हैं, जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुए हैं । उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) गर्भाधान—न्यून-से-न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ वर्ष का पुरुष हो, तभी यह संस्कार करना चाहिए। अन्यथा गर्भ स्थापित न होगा, यदि हुआ, तो क्षीण हो जायगा । यदि क्षीण भी न हुआ, तो बालक निर्बल और कम आयु वाला होगा+ । गर्भ-स्थापन तिथि से लेकर सन्तानोत्पत्ति होने और उसके बाद स्त्री के पुनः स्वस्थ होने में २½ वर्ष लगते हैं, इसलिए २½ वर्ष बीतने से पहले दुबारा गर्भाधान संस्कार नहीं करना चाहिए । २५ वर्ष गृहस्थ की अवधि में गृहस्थ अधिक-से-अधिक १० सन्तान उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार ऋतुगामी होताहुआ जो गृहस्थि गृहस्थ-धर्म का पालन करता है, उसको मनु ने ब्रह्मचारी ही कहा है ।

पुंसवन—का अभिप्राय वीर्य (शक्ति) लाभ और स्त्री की मानसिक शक्ति बढ़ाते हुए उसे उत्साहित करना है। गर्भ

* वर्णों का यह भेद केवल लोक-सम्बन्धी कर्मों में होता है, परलोक-सम्बन्ध कर्म, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना और दान देना जिससे मनुष्य मनुष्य बना करता है) सबके लिए एक जैसे हैं। इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है।

+ सुश्रुत शरीरस्थान अ० १० ।

काल में सन्तान की उत्तमता के लिए, स्त्री का प्रसन्न रहना आवश्यक है।

(३) सीमन्तोन्नयन—जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट, आरोग्य, स्थित हुआ गर्भ उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन (नियमित मर्यादा से) बढ़ता जाय।

(४) जातकर्म—संतानोत्पत्ति पर नाड़ी-छेदन आदि के बाद बालक की जिह्वा पर "ओम्" लिखकर उसके सीधे कान में "वेदोऽसीति" अर्थात् तेरा गुप्त नाम वेद है—ऐसा सुनाकर उसे घृत और मधु मिला कर चटाना। उत्पत्ति के पहले दिन ही से बालक को आस्तिक बनाने का यत्न किया जाता है। यही इस संस्कार का उद्देश्य है।

(५) नामकरण—बालक का सुंदर और सार्थक नाम रखना इस संस्कार का प्रयोजन है।

(६) निष्क्रमण—इस संस्कार से, बालक को घर से बाहर जहाँ की वायु शुद्ध और सुन्दर दृश्य हो, भ्रमण कराया जाता है।

(७) अन्नप्राशन—जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य हो जाय, तब इस संस्कार से अन्न खिलाने का प्रारम्भ करे।

(८) चूड़ाकर्म—बच्चों के दाँत निकलने सातवें मास से प्रारम्भ होकर तीसरे वर्ष के अंत में समाप्त होते हैं। दाँत निकलते समय अन्य रोगों के सिवाय चर्मज रोगों की भी सम्भावना होती है। इसी लिए यह संस्कार किया जाता है जिससे शिर हलका हो जाय, और बालक खाल-सम्बन्धी

तथा गरमी से होनेवाले अन्य रोगों से बचा रहे और उसके शारीरिक विकास में अन्तर न आवे।

(९) **कर्णबेध**—अन्त्र वृद्धि आदि रोगों के उपशमनार्थ* यह संस्कार किया जाता है।

(१०) **उपनयन**—शिक्षा और दीक्षा का प्रारम्भ इस संस्कार से होता है।

(११) **वेदारम्भ**—गायत्री मन्त्र से लेकर साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के अध्ययन करने और ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने के नियम धारण करने के लिए यह संस्कार प्रायः उपनयन संस्कार के साथ किया जाता है।

(१२) **समावर्तन**—ब्रह्मचर्य व्रत; वेद विद्या; उत्तम शिक्षा और विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त हो के गृहस्थाश्रम को ग्रहण करनेके लिए यह संस्कार किया जाता है।

(१३) **विवाह**—गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके उत्तम और

---

*देखो सुश्रुत-चिकित्सा स्थान अ० १६, २१।

†विवाह होने पर यदि पति या पत्नी का शरीर-पात हो जाय और उनके सन्तान न हो, तो ऐसे अक्षत-वीर्य पुरुष या अक्षत-योनि स्त्री का पुनर्विवाह शास्त्रविहित है और होना चाहिए (देखो मनु० ९ १७६) इसीलिये निरुक्तकार ने "देवर" शब्द के अर्थ द्वितीय वर किए हैं—"देवरःकस्माद द्वितीयो वर उच्यते"। (निरुक्त अ० १५)

क्षतवीर्य पुरुष और क्षतयोनि स्त्री के होने पर और ऐसी खास सूरतों में, जिनमें यह इष्ट हो कि विधवा परिवार से पृथक न हो (क्योंकि विवाह या पुनर्विवाह के होने पर कन्या-विधवा स्त्री पति-कुल में जाकर उसी परिवार

बलवान् सन्तानोत्पत्ति करने और गृहस्थाश्रम के अन्य कर्तव्यों के पालन करने के लिये यह संस्कार किया जाता है।

(१४) वानप्रस्थ—विवाह से उत्तम और वीर्यवान् सन्तान उत्पन्न करके ज्येष्ठ पुत्र के भी प्रथम सन्तान उत्पन्न हो जाने पर गृहस्थ को छोड़ कर सन्यासाश्रम की तैयारी करने के लिए यह संस्कार होता है।

(१५) सन्यास—तीनों प्रकार की (पुत्र, धन और यश) इच्छाओं से रहित होकर ब्रह्मोपासना और परोपकार के लिये अपने को अर्पण कर देने को संन्यास कहते हैं।

(१६) अंत्येष्टि कर्म—शरीर का अन्तिम संस्कार जिसके बाद मृतक के लिये कुछ नहीं किया जाता, प्राण रहित शरीर (शव) को भस्म कर देना है। इसी को नरमेध पुरुषमेध, नर-याग, पुरुष याग भी कहते हैं*।

सातवां मन्तव्य—यज्ञ से सम्बन्धित है। यज्ञ दो प्रकार के हैं। (१) नैत्यिक (२) नैमित्तिक।

नैत्यिक यज्ञ—पाँच है †

का अंग बन जाती है) और उससे उत्पन्न सन्तान मृत-पति और उसी परिवार की समझी जाय। महाभारत-काल में नियोग की प्रथा प्रचलित और शास्त्र विहित समझी जाती थी। धृतराष्ट्र और पांडु की उत्पत्ति इसी प्रकार से हुई थी, जैसा कि महाभारत में वर्णित है।

*संस्कारों का विवरण और ठीक ठीक क्रिया जानने के लिए श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती रचित "संस्कारविधि" को देखना चाहिए।

† देखो 'पंच-महायज्ञविधि ऋषि दयानन्द-रचित।

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—प्रातः और सायंकाल दोनों समय वेद मन्त्रों से ईश्वरोपासना करना ।

(२) **देवयज्ञ**—प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय (अथवा दोनों काल का एक समय) उत्तम सामग्री और घृत से अग्निहोत्र करना।

(३) **पितृयज्ञ**—जीते हुए माता पिता आदि की यथावत् सेवा करना पितृयज्ञ कहलाता है। इसी को श्राद्ध और तर्पण भी कहते हैं।

(४) **बलिवैश्वदेव**—गृहस्थ कार्य संपादन में जो अनायास कीट पतंगों की हिंसा होती रहती है उसके प्रायश्चित रूप में प्रति दिन कृमि, पक्षी और पापरोगी आदि के लिए भोजन से पूर्व भोजन देना इस यज्ञ का उद्देश्य है।

(५) **अतिथि यज्ञ**—धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित, शान्त, सर्व-हितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा करना।

ये पाँच यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ स्त्री-पुरुष को नित्यप्रति करने चाहिएँ।

नैमित्तिक यज्ञ—जो नित्य नहीं, कभी-कभी किये जाते हैं। इनमें से मुख्य* ये है।

(१) "दर्श पौर्णमासी" जो प्रत्येक आमावस्या और पौर्णमासी को नैमित्तिक यज्ञ के बाद किये जाते हैं।

(२) जब-जब नया अन्न आये तब-तब "नवसस्येष्टि" यज्ञ करना चाहिए। इनका मुख्य समय होली और दिवाली समझा जाता है।

* देखो 'संस्कारविधि' पृष्ठ १००, २०१ नवाँ संस्करण।

(३) "संवत्सरेष्टि" संस्कार के आरंभ में किया जाता है।

आठवाँ मन्तव्य—कर्म से सम्बन्धित है। इच्छा, द्वेष सुख, दुःख शरीर के निमित्त से आत्मा में आ जाते हैं। अत ये आत्मा के नैमित्तिक गुण होते हैं। आत्मा के स्वाभानिक गुण केवल ज्ञान और प्रयत्न (कर्म) है। इसी लिए मनुष्य शरीर, जो आत्मा के गुणों के सार्थक करने का साधन है। केवल ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का समुदाय है। इन दोनों (ज्ञान + कर्म) में से ज्ञान, कर्म का नियन्त्रण करता है। फलाफल प्राणियों को केवल कर्म से मिला करते हैं। इस लिए मनुष्य के लिए हाथ-पाँव हिलाना (पुरुषार्थ करना) अनिवार्य है और इसी लिए कर्म के सिद्धान्तों का समझ लेना भी आवश्यक है।

पहली बात—जो कर्म के सम्बन्ध में समझ लेना है, यह है कि बिना कर्म किये मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। आलस्य और कर्म-हीनता से मनुष्य और जातियों का नाश हो जाता है।

(२) दूसरी बात—यह है कि कर्म करके मनुष्य कर्म के फल से बच नहीं सकता। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म फल होगा, अवश्य कर्त्ता को भोगना पड़ेगा। जीव कर्म करने में अवश्य स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

(३) तीसरी बात—यह है कि मनुष्य को दुःख और सुख दो प्रकार से प्राप्त होते हैं। एक अपने कर्मफल से, दूसरे अन्यों के कर्म से। अन्यों के कर्मफल से नहीं, केवल कर्म से। अपने कर्मफल से मनुष्य को दुःख-सुख मिलता है, यह तो

स्पष्ट ही है। दूसरों के कर्म से किस प्रकार दुःख सुख मिला करते हैं इसको कुछ समझ देने की ज़रूरत है। एक मनुष्य गरमी से बेचैन है। धूप में चलने से प्यास ने उसका कण्ठ और मुँह सुखा रक्खा है। इसी अवस्था में वह एक पियाऊ के पास पहुँचता है और ठंडा जल पीकर शान्त और सुखी हो जाता है। यह सुख, पियाऊ बिठलानेवाले के कर्म से मनुष्य को प्राप्त हुआ करता है। इसी प्रकार चोर और डकैतों से उनके चोरी और डकैती के कर्म से मनुष्यों को दुःख उठाना पड़ता है। इन कर्मों का फल तो वे स्वयं भोगेंगे परन्तु उनके कर्म से दुःख और सुख अन्यों को भी मिला करता है। इस दृष्टि से मनुष्य का कर्तव्य ठहरता है कि वे दो प्रकार के कर्म करें।

(क) अपनी व्यक्तिगत उन्नति करें जिससे उनके कर्म अच्छे हों और उन्हें दुःख न भोगना पड़े।

(ख) समाज की भी उन्नति करें जिससे समाज (जाति) में बुरे आदमी न रहने पावें और उनके बुरे कर्मों से अन्यों को कष्ट न भोगना पड़े।

(४) चौथी बात—कर्म के सम्बन्ध में है। मनुष्य कर्म को धर्म (Duty-कर्तव्य) समझ कर करे, फल की इच्छा में अपने को लिप्त कर के कर्म का आदर्श नीचा न करे। पहले प्रकार के कर्म ही को वेद और उपनिषद् में निष्काम-कर्म कहा गया है। यही गीता का कर्मयोग है। दूसरे प्रकार के कर्म का नाम सकाम कर्म है। कर्म को जहाँ भी बन्धन का हेतु बतलाया गया है वहाँ कर्म से तात्पर्य्य सकाम-कर्म ही से है। निष्काम-कर्म तो मुक्ति का साधन है। पश्चिम का उपयो-

गिता-वाद (Utilitarianism) भी सकाम-कर्म का निकृष्ट रूप है जिसमें उपयोगिता के लिए झूठ बोलना भी जायज़ है।

नवाँ मन्तव्य—भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्ध में है। पाँचवें मन्तव्य में प्रसंगवश कहा गया है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि "तम को दूर, रज को नियमित और सत्व की वृद्धि करे।" वैदिक धर्म में भक्ष्याभक्ष्य के प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान इसी कर्तव्य के आधार पर किया गया है। जितने भी मादक द्रव्य हैं, जिनमें तंबाकू का खाना, पीना और सूँघना भी शामिल है,* सब तमोगुण बढ़ानेवाले हैं। मांसादि ‡ भी तमोगुण-वर्धक हैं, इस लिए सबके सब अभक्ष्य हैं। पाप के कमाये हुए धन से भी तमोगुण की वृद्धि होती है। इस लिए वह भी अभक्ष्य है।

---

* तंबाकू का दुर्भाग्य से देश में बहुत रिवाज बढ़ता जाता है, परन्तु इसके ज़हरीले प्रभाव से बहुत कम लोग जानकारी रखते हैं।

एक पौण्ड तंबाकू में ३८० ग्रेन अत्यन्त घातक विष रहता है, जिस का नाम निकोटीन (Nicotine) है। यदि ये (३८० ग्रेन) विष ३०० आदमियों को इस प्रकार खिला दिया जाय कि वह उनके पेट में पहुँच जाय तो सबके सब मनुष्य उस विष के प्रभाव से मर जायँगे। इस विष के सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किये गये हैं। एक कुत्ता जिसके भीतर यह विष पहुँचा दिया गया, १० मिनट के भीतर मर गया। इसी प्रकार मक्खी और मेंढक तो केवल धुएँ ही से मर गये। (देखो Man the master piec by Dr. Kallo)

‡ हिंसा के बिना मांस प्राप्त नहीं हो सकता इस लिए भी अभक्ष्य है।

दसवें मन्तव्य—में कुछ परिभाषाएँ लिखी जाती हैं जिनसे विशेष विशेष शब्दों के भाव ठीक ठीक समझ में आ जाएँ—

(१) "अर्थ" वह है जो धर्म (उचित साधनों) से प्राप्त किया जाय। जो अधर्म से प्राप्त किया जाता है उसे "अनर्थ" कहते हैं।

(२) "काम" वह है जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

(३) "देव" विद्वानों को कहते हैं। अविद्वानों को "असुर" पापियों को "राक्षस" और अनाचारियों को 'पिशाच' कहते हैं।

(४) "देवपूजा" विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा, धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पुरुष का सत्कार करना 'देवपूजा' कहलाती है। इनके विपरीत पुरुष, स्त्री अथवा पाषाण आदि जड़ मूर्तियां सर्वथा अपूज्य हैं।

(५) "पुराण"—ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण-ग्रंथों ही को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं।

(६) "तीर्थ" जिससे दुःखसागर से पार उतरें। सत्य-भाषण, विद्या, सत्संग, योगाभ्यास, दान आदि जो शुभकर्म हैं वे ही तीर्थ हैं, इतर जल स्थल आदि नहीं।

(७) पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है। मनुष्य जो कर्म करता है वह क्रियमाण कहलाता है। फल के लिए जब कर्म पूरा हो जाता है तब उसका नाम "संचित" हो जाता है। उस (संचित) में से जिस कर्म का फल मिलने लगता है उसी को "प्रारब्ध" कहते हैं। इस प्रकार प्रारब्ध पुरुषार्थ रूप कर्म

का फल है और फल सदैव कर्म के अधीन रहता है इसी लिए पुरुषार्थ की महिमा है ।

(८) आर्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट मनुष्य को कहते हैं ।

(९) सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचरण का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग कराने वाला "आचार्य" कहलाता है ।

(१०) "गुरु"—माता, पिता और जो विद्या और सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे उसकी "गुरु" संज्ञा है ।

(११) "उपाध्याय"—जो वेदों को एक देश वा अंगों को पढ़ाता है ।

(१२) "पुरोहित"—जो यजमान का हितकारी और सत्योपदेष्टा हो ।

(१३) "ब्रह्मा" चारों वेदों के विद्वान् को कहते हैं ।

(१४) "आप्त" जो यथार्थ वक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिये प्रयत्न करता है उसे कहते हैं, ईश्वर को भी आप्त कहते हैं ।

(१५) "स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है ।

(१६) "नरक" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति होना है ।

चौथा परिच्छेद ।

"वैदिक-धर्म और विज्ञान"

जगत की उत्पत्ति सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम सांख्यदर्शन और नैबुलर थियोरी में वर्णित है उस क्रम के अनुसार जब प्रकृति साम्यावस्था से विषमता में परिणत होकर क्रमशः

सूक्ष्म-भूतों की उत्पत्ति करने के बाद स्थूलभूतों को उत्पन्न करती है और अग्नि तक की उत्पत्ति हो जाती है—बस, उसी जगह से नैबुलर थियोरी का प्रारम्भ होता है । नैबुला (नीहारिक) जो नैबुलर थियोरी का आदिम तत्त्व है वह अग्नि तक उत्पन्न हुए ३ भूतों आकाश, वायु और अग्नि का सघात ही है। उसीसे जल और पृथिवी बनते हैं और आगे को जितनी और जिस प्रकार से सूर्यादि की उत्पत्ति नैबुला से बतलाई गई है वह सब वैदिक जगतोत्पत्ति के बाद अनुकूल ही है । नैबुलर थियोरी का आविष्कारक नहीं जानता कि नैबुला किस प्रकार से बना और न उसे यह ज्ञान है कि लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति के बाद प्राणियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई । परन्तु वेद और आर्यग्रन्थों में यह सब बातें विवरण के साथ वर्णित हैं। अब उत्पत्ति के बाद महाप्रलय के सिद्धान्त को देखिए कि किस प्रकार भौतिक-विज्ञान उसकी पुष्टि करता है ।

महाप्रलय का सिद्धान्त

वैदिक महाप्रलय-वाद का तात्पर्य यह है कि प्रकृति विषमता को छोड़ कर साम्यावस्था को प्राप्त कर लेवे और इस दशा में सूर्य से लेकर तृण पर्यन्त एक भी वस्तु बाकी नहीं रहती । सबकी सब अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती हैं। अब आप भौतिक-विज्ञान को देखिए।

क्लाशियस का ताप सिद्धान्त

क्लाशियस ने अपने ताप सम्बन्धी सिद्धान्त में बतलाया है कि ताप दो प्रकार का है (१) ताप रूपशक्ति जो जगत में है बराबर काम करती रहती है परन्तु (२) दूसरा ताप जिसका रुजहान अन्तर प्रवेश है, वह जगत में काम नहीं करता, अपितु जहाँ तक जगत के

कार्यों का सम्बन्ध है उसके लिए उस (दूसरे ताप) की सत्ता नष्ट हुई सी समझी जाती है। दूसरे ताप की मात्रा पहले ताप के व्यय से नित्य प्रति बढ़ती रहती है। कम होते होते जब आग्नेय शक्ति बराबर कम होती रहती है और कम होते होते जब शून्यावस्था रह जाती है, तब जगत् गतिशून्य होकर महाप्रलय को प्राप्त हो जाता है *। अस्तु, प्रकट हो गया कि भौतिक-विज्ञान वैदिक महाप्रलय-वाद की पुष्टि कर रहा है। जब जगत इस प्रकार महाप्रलय-वाद को प्राप्त हो गया और क्लाशियस के कथनानुसार गति शून्य प्रकृति का ढेर-ही-ढेर रह गया † तो

* The Energy of the universe is constant (It is convertable into work) but the entropy (*i.e.* force that is directed inwards)of the universe tends towards a maximum (It is not convertable into work.) This latter Energy already converted into heat and distributed in the cooler masses is irrevocably lost as far as any further work is concerned......(Clausious the founder of the mechanical theory of heat).

† All difference of temperature must ultimately disappear and the completely latent heat must be equaly distributed through one inert mass of motionless matter. All organic life and movement must cease when this maximum of Entropy has been reached. That would be a real end of the world. (Clausius)

जगत की पुनः उत्पत्ति बिना गति के किस प्रकार हो सकती है और चूंकि उत्पत्ति होती है इसी लिए गति देने के लिए गति-दाता का मानना अनिवार्य है।

ईश्वर की सत्ता मानने के लिए विज्ञान मजबूर है

यजुर्वेद में यही बात कही गई है—"तदेजति तन्नेजति* । वह (ईश्वर) गति देता है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता जैसा कि पहिले कहा जा चुका है।

यूनान के बड़े दार्शनिक अरस्तू ने भी वेद के इस कथन का समर्थन किया है†। और क्लाशियश का यह सिद्धान्त न केवल वैदिक महाप्रलयवाद का पोषक है किन्तु गतिदाता (ईश्वर) की सत्ता मानने के लिये भी विवश है। अन्यथा बिना गति के पुनः जगतोत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अब प्रकृति और जीव की सत्ता के सम्बन्ध में विज्ञान का मत क्या है इस पर ध्यान दीजिये।

प्रकृति के नित्यत्व वैदिक सिद्धान्त

विज्ञान के प्रसिद्ध सिद्धान्त "प्रकृति स्थिति नियम" (Law of conservation of matter) का उद्देश्य ही यह है कि यह प्रकट कर देवे की प्रकृति का एक परमाणु भी नष्ट नहीं होता; सब सुरक्षित रहते हैं। जर्मन वैज्ञानिक इर्नेस्ट हैकल ने तो प्रकृति के

---

*यजुर्वेद अध्याय ४० मंत्र ५।

‡"........God was merely the Source of movement. The first mover who himself is never moved." (Vide the Seven Ages by the author of "The Mirrors of Downing Street," P. 46.)

साथ जगत् को भी खुले शब्दों में नित्य ठहराया है। प्रकृति के नित्य होने में विज्ञान के अन्दर कोई मतभेद नहीं है, सभी वैज्ञानिक उसे नित्य ठहराते हैं। अब जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार कीजिये।

जीवात्मा सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त

जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार करने में यद्यपि वैज्ञानिकों में मतभेद है परन्तु उच्च श्रेणी के वैज्ञानिक न केवल जीव की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु उसे नित्य भी ठहराते हैं। इस बात की पुष्टि में कुछेक वैज्ञानिकों के मत यहां उद्धृत किये जाते हैं—

सर आलिवर लाज का मत

"हम केवल शरीर नहीं हैं। हम मस्तिष्क, चेतना शक्ति और आत्मा भी हैं।" .... "तुमको कहा जाता है कि मस्तिष्क ही तुम्हारा आत्मा है। लोग ऐसा क्यों कहते हैं? इसलिए कि यदि तुम्हारा मस्तिष्क नष्ट हो जाय तो आत्मा चला गया—ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि मस्तिष्क के नष्ट होने से उसमें आत्मा नहीं रहा परन्तु वह (आत्मा) नष्ट नहीं हुआ और न यह कि वह शरीर में न रहा हो। वह अब भी शरीर में मौजूद है परन्तु उसने अपने प्रकट होने का साधन (मस्तिष्क) खो दिया है, इसलिए वह प्रकट नहीं होता............यह कहना अनुचित है कि शरीर के नाश होने से आत्मा भी नष्ट हो गया। हमारी (आत्मा) की आयु केवल कुछेक वर्षों की नहीं है जो हम पृथिवी पर व्यतीत करते हैं.................

*Riddle of Universe by Ernest Haechle P. 11.

निःसन्देह (शरीर के नाश होने पर भी) हम बाकी रहेंगे। हम यह बात परिमित वैज्ञानिक हेतुओं के आधार पर ही कहते हैं *।

हक्सले का मत

प्रकृतिवादी वैज्ञानिक होते हुए भी हक्सले ने स्पष्ट लिखा है "जीव शरीर की रचना हेतु है, परिणाम नहीं।" (Life is the cause and not the Consequence of organisation)

जान स्टुअर्ट मिल का मत

"हमारी आत्म-शक्ति प्रकृति (शरीर) को प्रभावित कर क्रियाएं कराती है †।"

प्रोफेसर टेट का मत

डेकार्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त "मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ (Cogitoergosum-I think therefore I am) का ही टेट Prof. Tait) ने समर्थन किया है। उनका कहना है कि "निर्बंधशीलता या संरक्षण आत्मा की वास्तविक सत्ता की कसौटी है ‡।" इस प्रकार अनेक वैज्ञानिक आत्मा की स्वतन्त्रता सत्ता और उनके नित्यत्व के समर्थक हैं। हमने वेद प्रतिपादित कतिपय मुख्य मुख्य सिद्धान्तों को देख लिया कि वे उसी प्रकार वैज्ञानिकों के द्वारा समर्थित हैं जिस प्रकार उनकी पुष्टि वैदिक-धर्मानुयायी करते हैं। इससे पूर्व पृष्ठों में वेदवाद, कर्म और ज्ञान के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि किस

* Science and Religion by Seven men of Science. p. 20-25.

† आत्मदर्शन पृष्ठ ५१। (यह पुस्तक भी हमारी प्रकाशित है)

‡ Religion of Sir Oliver Lodge by J. Mecobe p. 82.

प्रकार वे भी विज्ञान से समर्थित हैं और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वैदिक कर्म और ज्ञान सोद्देश्य होने से उद्देश्य-रहित विज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्टता रखते हैं। और इसी लिए वेद "ज़िन्दा रहो और ज़िन्दा रहने दो" (Live and let live) की उच्च सभ्यता की शिक्षा देते हैं। जब कि पश्चिमीय कर्म और ज्ञान (Art and Science) निर्बलों का नाश करके केवल बलवानों को जीवित रखना चाहते हैं और इसी लिए अनेक प्रकार की घातक विषैली गैसों की ईजाद करने में लगे हुए हैं। परन्तु गत पश्चिमीय युद्ध ने पश्चिम की आँखें खोल दी हैं और उद्देश्य रहित होने से किस प्रकार सांईस, उनके ही प्राण लेवा बन रही है, इसको भी उन्होंने खूब जान लिया है और इसी लिए अनुमान किया जाने लगा है कि समय आनेवाला और निकट भविष्य ही में आनेवाला है कि जब विज्ञान को वैदिक धर्म से उद्देश्य की भिक्षा माँगनी पड़ेगी ।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

कुछेक फुटकर बातें

अब कुछेक आवश्यक बातें, जिनकी पहले पृष्ठों में चर्चा नहीं हुई है, अंकित की जाती हैं—

स्त्रियों के अधिकार वैज्ञानिक साहित्य मे स्त्रियों का नाम अर्धाङ्गिनी कहा गया है अर्थात् गृहस्थ का यदि आधा अङ्ग पुरुष है तो दूसरा आधा स्त्री। इस प्रकार पुरुष और स्त्रियों के अधिकार समान होने की शिक्षा वेद प्रतिपादित

हैं—वेद ने ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा पाने की आज्ञा, पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी दी है* । उसके अधिकार पुरुषों के समान ही हैं † । स्त्रियों को राजनीति विद्या‡ सीखने की भी आवश्यकता बतलाई गई है । उनको पुरुषों की भान्ति युद्ध क्षेत्र में जाकर युद्ध करने का भी विधान किया गया है§ । स्त्रियों को समस्त धार्मिक कृत्यों (यज्ञादि) के करने की शिक्षा है । यहां तक कि योगाभ्यास आदि भी उनका कर्तव्य ठहराया गया है ।

स्त्रियों के साथ पवित्रता का भाव यहां तक जोड़ा गया है कि गृहस्थ पुरुषों को आज्ञा दी गई है कि विवाह केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही करना चाहिए‖ । और दिन में गर्भाधान का भी निषेध किया गया तथा पर-स्त्रीगमन की निन्दा की गई है ¶ । यदि वेद इस प्रकार स्त्रियों का मान करते हैं तो स्मृतियों ने भी उनके मान करने में कमी नहीं की है । मनु ने स्पष्ट लिख दिया है कि **"यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः+।"** जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, अर्थात् वे पूरे आदर और सम्मान के साथ रक्खी

---

* ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (वेद)

† यजुर्वेद अध्याय ८ मंत्र ७ ।

‡ ,, ,, १० ,, २६ ।

§ ,, ,, ६ । २०, १६ । २४

$,, ,, १९ । ९३

‖ यजुर्वेद अध्याय ३८ मंत्र ८, ९ ।

¶ ,, ,, ८ । ४८ ।

\+ मनु० ३ । ५६ ।

जाती हैं वहां देवता रमते हैं। अर्थात् उस परिवार के पुरुष देवता के सदृश हो कर प्रसन्न-चित्त रहते हैं। प्राचीन इतिहास में जहां सुलभा, गार्गी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के इतिहास मिलते हैं वहां विद्याधरी आदि उच्चतम विदुषी स्त्रियों का भी बखान किया गया है जो शंकर और मण्डन जैसे उत्कृष्ट विद्वानों के शास्त्रार्थों में मध्यस्थ होने की योग्यता रखती थीं। एक उदाहरण ही से पता लग जाता है कि प्राचीन काल में वेदों की उपर्युक्त शिक्षा का क्रियात्मक रूप क्या था। जितनी स्त्रियों के हाल मालूम हैं उनमें मन्थरा से बढ़ कर अपराध करने वाली कदाचित् अन्य कोई स्त्री न होगी, जिसके अपराध के कारण राम, लक्ष्मण और सीता को वन जाना पड़ा, दशरथ की मृत्यु हुई और सारी अयोध्या तथा समस्त राज्य परिवार को दुखी होना पड़ा परन्तु इस अपराध के बदले में जब शत्रुघ्न ने चाहा कि उसे दण्डित करें और बध दण्ड दें तो भरत ने शत्रुघन को सावधान करते हुए चेतावनी दी कि स्त्रियां अवध्य हैं इसी लिए इसे क्षमा कर दो। यदि राम इसे सुनेंगे कि हम लोगों ने इसका वध कर दिया है तो निश्चय रक्खो कि वे हमसे कभी बात भी न करेंगे* ।

रामायण-काल में इतना उच्च भाव स्त्रियों के प्रति मौजूद था। उनको अधिकार था कि स्वयंबर द्वारा अपने लिए स्वयं पति का निर्वाचन करें और इस प्रकार गृहपत्नी

---

*इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥
(वाल्मीकि रामायण अयोध्या ० ७८ । २३)

बन कर पूर्णतया गृहस्थ का उत्तरदायित्व अपने अधीन रक्खें। बड़ी बड़ी सभाओं में सम्मिलित होना, वाद-विवाद में भाग लेना अपनी सम्मति देना आदि सभी काम थे जो उनके लिए खुले हुए थे। कोई भी शिक्षा, दीक्षा अथवा सुकृत्य का द्वार नहीं था जिस पर उनके लिए No admission (भीतर न आओ) लिखा हुआ हो। दूसरी बात, जिसका हम यहां उल्लेख करना चाहते हैं, शूद्रों और अछूतों का एक विषय है।

शूद्र और अछूत

प्राचीन काल मे यहां शूद्र वर्ण अवश्य था परन्तु अछूतों के होने के कोई चिह्न नही पाये जाते। और शूद्र वर्ण भी इतना अपमानित न था, जैसा आजकल है। वेद ने "तपसे शूद्रम्" यजुर्वेद के इस वाक्य में शूद्र को "कठोर-कर्मा" कहा है। अर्थात् जो कठोर-से-कठोर शारिरिक परिश्रम का काम कर सके उसे शूद्र कहते है। शिल्प-सम्बन्धी कार्य लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि के सभी कार्य—शूद्र वर्ण के कर्तव्यान्तर्गत है। मनु ने जो शूद्रों का कर्तव्य "सेवा" लिखा है उनका भाव यह नहीं कि शूद्र केवल भृत्य (Menials) का काम करें, किन्तु सेवा मे जितने समाज-सेवा के कार्य है, सभी सम्मिलित है और यह स्पष्ट हो चुका कि शिल्प-सम्बन्धी सभी कार्य समाज-सेवा के है। इसलिए शूद्रों में अच्छे-अच्छे शिल्पी, अच्छे-अच्छे दस्तकार, कठोर-से-कठोर शारीरिक परिश्रम करनेवाले, आदि सभी सम्मिलित हैं। चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र आर्य हैं। दस्युओं अर्थात् उन लोगों का नाम, जो दुष्टकर्मा हैं, दस्यु है और ये आर्य से पृथक हैं। वेद में इनको भी सुधार कर आर्य

बनानेका विधान पाया जाता है। अस्तु, प्रत्येक शूद्र कुलोत्पन्न- बालक के लिए शिक्षा का द्वार खुला हुआ था और यह उनके अधिकार में था कि अच्छी शिक्षा या और अच्छे कर्म कर अपने को चाहे ब्राह्मण बना लेवे, चाहे क्षत्रिय और चाहे वैश्य। समाज का कोई प्रतिबन्धक नियम नहीं था और न वैदिक प्रथानुसार ही हो सकता है। आज तो अछूत जातियां यहां है वे अर्वाचीन-काल ही की सृष्टि हैं और बहुत सम्भावना है कि इस देश में विदेशियों के आने के बाद ही वे बनीं हों। वे किसी प्रकार से भी बनी हों परन्तु इस समय वे हिन्दु जाति के लिए कलंक का टीका हैं। इसी लिए आर्य-समाज ने उनसे अछूतपन खो देने की बात को अपने कार्य-क्रम में मुख्य स्थान दे रक्खा है।

शुद्धि

तीसरी बात शुद्धि से सम्बन्धित है। आर्य-समाज धर्म-प्रचारक समुदाय [Missionery Religion] है इसलिए उनके कार्यों में शुद्धि [Conversion] के लिए भी मुख्य स्थान का होना स्वभाविक ही था। वेद जब किसी देश या जाति विशेष के लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण जगत् की सम्मिलित सम्पत्ति हैं तब उनकी शिक्षा को प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में फैलाया जाना आवश्यक ही था इसी लिए ऋषि दयानन्द ने अपने स्वीकार-पत्र में देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में वैदिक धर्म का फैलाना आवश्यक ठहराया है। वेद और ऋषि दयानन्द के आदेशानुसार वेद प्रचार होवे पर शुद्धि का काम इसी लिए आर्यसमाज के जन्म-दिवस से आर्यसमाज में होता है। और प्रसन्ता की बात है कि यह दिन-दूनी और रात-चौगनी उन्नति भी कर रहा है।

आर्य समाज क्या है ?

के लेखक

श्री नारायण स्वामी जी की लिखी हुई

अन्य उपयोगी पुस्तकें

आत्म दर्शन

यह पुस्तक स्वामी जी ने वर्षों के स्वाध्याय के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में लिखी है। संसार के भिन्न २ धर्मों, फिलासफी, दर्शनों तथा साइंस में आज तक आत्मा के विषय में जितने भी सिद्धांत निकले हैं उन सबकी इस पुस्तक में परीक्षा की गई है। प्रत्येक अध्याय में एक से बढ़ कर शिक्षाप्रद और उपयोगी बातें हैं। हिन्दी में इस विषय का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। संशोधित और परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण अभी छपा है। पृष्ठ संख्या ५००, बढ़िया छपाई, मूल्य १।) सुनहरी जिल्द १॥)

मृत्यु और परलोक

चिरकाल से जनता को ऐसी पुस्तक की मांग थी जिसे मृत्यु हो जाने के बाद संतप्त हृदयों को कथा रूप में सुना कर शान्ति प्रदान की जाय। श्री स्वामी जी महाराज ने जनता की मांग पर इस पुस्तक की रचना की है। इस पुस्तक में मृत्यु का वास्तविक रूप, मृत्यु दुखप्रद क्यों प्रतीत होती है? मरने के बाद क्या होता है? प्राण छोड़ने के समय प्राणी की क्या दशा होती है? भूत प्रेत क्या है? एक योनि से दूसरी योनि तक पहुँचने में जीव को कितना समय लगता है, जीव दूसरे शरीर में कैसे जाता है? आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। विशेषकर ऐसे समय में जब परिवार में दुर्भाग्य से मृत्यु होने या ऐसी ही किसी अन्य आपत्ति के आने से वे दुःखों में फंसे हों, पढ़कर शान्ति उपलब्ध की जा सकती है। पुस्तक पढ़ने योग्य है। सोलहवां संस्करण छप चुका है।

मूल्य सुनहरी जिल्द ॥।) बिना जिल्द ॥) उर्दू ॥।=)

प्राणायाम विधि

मन को शुद्ध तथा शरीर को तन्दुरुस्त रखने और नाना प्रकार के रोग और व्याधियों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय प्राणायाम है। प्राणायाम क्या है और किस प्रकार करना चाहिए, यही इस पुस्तक में बताया गया है। इस में ऐसी मोटी और उपयोगी बातें अंकित की गई हैं जिन के अनुकूल कार्य करने से किसी भी प्राणायाम सम्बन्धी विधियों के अनभिज्ञ पुरुष को कठिनता न हो। दोरंगी छपाई गुटका साईज, चौथी आवृत्ति। मूल्य =)

लेखक— श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज।

मनुष्य जीवन ४ आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास—मे विभक्त है। इन आश्रमों मे गृहस्थ आश्रम ही अधिक कठिन और उच्च आश्रम है। तो इस मे सन्देह नहीं

कि इसमें अधिक शिक्षा और धर्मपरायणता की आवश्यकता है।

वर्त्तमान समय में ऐसी पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता देख स्वामी जी ने उक्त पुस्तक का निर्माण किया है। क्योंकि आजकल हिन्दी साहित्य में इस विषय पर जितनी भी पुस्तकें निकली हैं उन सब पर अश्लीलता की पुट लगी हुई है। पिता या भाई ऐसी पुस्तकों को अपनी पुत्री या बहिनों के हाथ देते लजाते हैं क्योंकि इस विषय पर कोई अच्छी पुस्तक न थी। ईस लिए विवशता से उन्हें ऐसी पुस्तकें देनी पड़ती थीं अब ऐसी बात नहीं है। श्री स्वामी जी महाराज ने कृपा करके हमारी बहिनों और देवियों के लिए ऐसी पुस्तक लिख दी है जिसको पढ़कर वह सच्ची गृहलक्ष्मी बन सके। पुस्तक में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता, गृहस्थ में प्रविष्ट होने की योग्यता, गृहस्थ में प्रवेश और प्रतिज्ञा, गृहस्थ जीवन सुधार के साधन, विवाह कब और कहां होना चाहिए, गृहस्थ का यज्ञ मय जीवन, पर्व पद्धति और गृहस्थाश्रम आदि ६१ आवश्यक विषयों पर भली प्रकार विचार किया है। आप सोचिये ऐसी पुस्तक को पढ़कर कन्याएँ और देवियां क्यों न सीता और सावित्री बनेंगी। आर्यसमाज का विशेष कर्त्तव्य है कि ऐसी पुस्तक को काफी संख्या में मंगाकर अधिक प्रचार करें। बढ़िया कागज, सुन्दर मोटी छपाई, सरल भाषा, बढ़िया जिल्द मूल्य केवल १।)

---

however, agreement that insight occurs when there is integration of experience, a restructuring or seeing of the new relationship to the problem at hand. Provided the intelligent world existed, Duncker tried hard to distinguish between analytic insight and synthetic insight. The former corresponded to the reproductive knowledge and the latter, to the productive knowledge. It is not possible to distinguish between the two solutions on the basis of the above mentioned two sub-concepts because both understanding and inference are present in successful as well as unsuccessful solutions. This difficulty further increases, according to E.A.Peel, when Gestalt psychology does not evaluate productive thought(40). In other words, it is safe to say that insight implies more than aptness of the solution rather than the existence of high I.Q.(39). Yerkes, another animal psychologist but not a Gestalt one says, " that the conventional formula for habit formation is incomplete and that the process of trial & error is wholly inadequate as an account of anthropoid adaptations" (39). He has independently determined the characteristics of insight experimentally which are quite comprehensive and throw light on this concept as developed by Gestalt psychologists. It appears that the word ' insight' is tried to the changes in

the problem situation itself which bring about the experience of insight to the subject. Van de Geer appears to have said a last word on it when he says:

> A shift in meaning is apparent. It meant to indicate a specific inner experience, later it was regarded as a certain kind of behaviour and now it appears to be a sort of psychological principle(40).

In summary, the Gestalt Psychology, according to Irwin Slesnick, visualizes an active role for the learner in his learning process for he is not a passive entity(50). This implication is naturally linked with self-study and self-education, an excellent culminating point for any educational system any where in the world. Secondly, it discourages the acquisition of facts, concepts and principles without understanding, a positive step towards real learning and knowledge. Thirdly, it stresses divergent thinking in the phraseology of Guilford, that is going for beyond the starting point in one's thinking by setting up all sorts of hypotheses (open hypotheses) and testing them against the given data, the demands of the problem or setting up control experiments with a view to exclude irrelevant variables. These new scientific concepts or insights,

according to Irwin Slesnick are gained through a 'series of acts of discovery, however, small these steps may be.'(50).

2. The Geneva School:

Educational ideas like scientific ideas do not develop in vacuum for they have their past in educational principles 'rooted in the wisdom of the ages', dating back to the ancient Greek thinkers like Socrates & Plato. Since then, the ideas of many great thinkers representing different disciplines have been woven into the fabric of current educational philosophy and practice' (51). Piaget drinks heavily from this philosophical spring and even pays back his ancestral debt abundantly in his life time to the moderns and the futurists for it is impossible to imagine today any study on cognition without reference to his work. He presents some sort of thought provoking synthesis of various theories. In his thinking, he has been influenced by Plato's rationalist tradition, Kant's doctrine of mental categories, Bergson's notion of perceptual change, work of Gestalt psychologists, use of logic for inter-pretation of thinking (classes, relations, grouping, reversible and equilibrium) and several individual personalities past & present of his country. A few to mention are: Calvin, Rousseau, Pestalozzi, Claparede, Binswanger, Bleuler, Rorschach, Meili, Jung and Sechehaye(51).

On the top of it, his own subject: Biology has coloured his entire work when he stated:

> Development is continuous not only with the individual but throughout all evolutionary levels. From the biological to the social to the intellectual level, the unity of nature is preserved. The functioning of the loveliest mollusk is based on the same fundamental processes as that of an Einstein(52).

So the contribution of Piaget and his coworkers is monumental. This is despite the fact that his work did not evoke much interest for long. One of the reasons for this poor appreciation was that Piaget is and has been a difficult author to read and understand. But the last twelve years have brought a complete reversal in researcher's attitude toward Piaget. The reason for this is that much of recent research has been geared to verify and test Piaget's basic ideas. Now, according to J.G.Wallace, he can be ' fairly said to bestride the field of contemporary ontogenetic studies like a colossus'(53). Piaget chooses problems for investigation from the area of cognition without considering at the same time any other outside variables like intelligence, socio-economic status,

rural and urban differences, personality traits and even motivation. He takes each piece and interprets it from all possible viewpoints (including historical and philosophical) and then gives his own view point. And in this process, he discards all the alternative interpretations considered earlier. It hardly matters for him even if he has to go a long way, according to J.H.Flavell, in explaining his view-point even at the cost of limited data collected empirically for the purpose(54).

Piaget acknowledges his debt to Gestalt Psychology in his thinking. A mention has already been made that Gestalt psychology is itself quite rich in ideas for teaching science effectively. But Piaget goes a step further when he says that his schema are ' more dynamic and modifiable structural units than are the Gestalts' (52,54). They are characterized by mobility, transposability,generalizability, elasticity, self-modifiability to fit new data, built-in activity; and lastly, they undergo evolution through corrective contacts. Inferior schemata then become superior ones which are, comparatively speaking, more adequate to reality adaptation. There is no place of insight because the complex schemata arise or evolve from the simpler ones already formed. To put in simple words,

unlike a Gestalt, schema has a past history(continuity)which has its own laws of development. It may be therefore inferred from the above, that Piaget does not reject Gestalt psychology in toto but on the other hand, he makes it more mobile and consequently replaces its ' apriority with a genetic relativity' (54).

Method of Procedure. Piaget does not use standardized procedures (perception excluded). He chooses methods and techniques reflectively for effective exploration relative to the phenomenon under study. He develops his own concepts which are at times misunderstood, misquoted and found to suffer not only from defects but also he is found to apply them differently, i.e., their meanings appear to change depending upon the period of his work. Difficulties of the readers increase when he does not at all explain his concepts sufficiently well but takes them for granted in his abstract reasoning. At the same time, while sticking to his field, he evaluates critically the findings of others and accepts criticism in turn(49,54).

Piaget's approach is elastic and flexible. His method is clinical which demands both' imagination and critical sense' for a great care is taken in not imposing the experimenter's point of view on the child. Further, Piaget is able to establish a very good rapport with his subjects,

In one of his experiments, he proceeded somewhat as follows:-

Piaget : What am I doing ?

Pupil : You are clapping.

Piaget : What am I doing ?

Pupil : You are slapping (55).

Then Piaget presents the problem. He thus succeeds very well in giving us the inside view of what happens when children think. He does this by observing his subjects in informal situations, that is, under natural conditions, questioning them verbally about their every day concepts round the natural phenomena; and investigates their thinking through his highly ingenious experimental materials and physical experiments. He then classifies their responses into stages and discusses the main distinguishing features of each stage; and how it is linked with both its predecessor and successor stages. He also reports analysis of frequencies of responses and dispersion by ages. He then links these stages to his highly mathematical and abstract logical models. He hardly computes the conventional sort of statistical measures. He hardly uses tests of significance. This naturally publicizes a false impression that Piaget does not have any grounding in statistics and mathematics. [illegible] such critics, he has given one apt reply:

The object of these studies, initially, was not

to establish a scale of development and to obtain precise determinations of age as regards stages. It was a question of trying to understand the intellectual mechanism used in the solution of problems and of determining the mechanism of reasoning. For that we used a method which is not standardized , a clinical method, a method of free conversation with the child....That is why, personally I am always very suspecious of statistics on our results. Not that I dislike statistics; I worked on biometrics enthusiastically when I was a zoologist, but to make statistical tables on children when each was questioned differently appears to me very much open to criticism as regards the results of the dispersion(56).

He has his own reasons for selecting and developing these unconventional techniques. One should not miss the point that Piaget aims at investigating and finding out as much as he can(may it be at its worst considered a sort of exploration) successive cognitive structures in the whole

process of ontogenetic development among normal children. Therefore, researchers on Piaget have simply to learn to live with them(techniques) for the essence of his critical methods is to' separate the wheat from the tares and to keep every answer in its mental context, the context may be one of reflection or of spontaneous belief, of play, or of prattle, of effort and interest, or of fatigue'(57).

It is just recently that Piaget has expounded his eclectic methods of research and theory construction. In these, he employs two essential approaches which have much in common with those applied to nuclear sciences. These are a detailed analysis, in order, of an investigation based upon cause and effect constituting a net-work characterized by hierarchical relationships and combined connections and the consequent 'analysis of implications by considering both the field as a whole and the co-ordination of its parts, in mathematics, this is comparable to the group, and in logic, to the propositional operation.' Empirical investigations and the inductive mode of reasoning are akin to the first approach, while reasoning by logic and constructing hypotheses by deduction is similar to be second(50). Piaget believes and stresses that symbolic logic like statistical techniques is a productive research tool in psychology as well. One of his colleagues, Inhelder says:

The use of such tools in no way implies that

> the psychologist has succumbed to logicism, that is, has decided in advance that the real thought of the child should conform to the laws which govern logical and mathematical structures. Only the facts can decide whether or not it does so conform.....These models represent the ideal system of all possible operations, while actual thought makes but one choice amongst them. More than twenty years of research have shown that cognitive development approximate these models without attaining them completely(59).

Psycho-Logic. Just as mathematical physics helps the physicist to interpret experimental findings in physics, similarly, Piaget constructs his own logic to investigate and interpret intellectual operations. For the last thirty years or so, Piaget has been using successfully the various techniques of symbolic logic for uncovering the intellectual behaviour of young children. It won't be out of place to mention here that Piaget is not the first to recognize the importance of logic to test inferences based upon observations. He got this idea from the studies of Kulpe and his students at the Wurzburg school in Germany. Their studies indicated the accessory role of images (not essential as associationists would imply),

possibility of reporting the intellectual feelings and attitudes and thought consisting of anticipatory schemata, intention, rules and relationships. Apart from borrowing models such as those of Klein and Bourbaki from modern mathematics, Piaget himself has developed one of his own called' groupements' which are comparable to semi lattices (59). Inhelder has suggested the use of another weaker model which makes use of Boolean algebra. The adequacy of these logical models has been questioned by many critics like Issac (1951), Parsons(1960), Braine(1962) and even Bruner (equilibrium as a transition rule). Lovell's remark that Piaget would have produced a different child, had he had no training in Biology; and certain branches of mathematics had not developed as much as we find them developed in our times (60). It is quite probable then that he may not have produced any child at all as our knowledge is as best as the prevailing conditions allow. And as Wallace says, ' his early training in Zoology, together with his increasing interest in recent years in symbolic logic and the mathematics of groups and sets, have clearly influenced his account of the genetic structures of the child's minds' (53). To conclude with Bruner, there appears to be a potential dynamism in Piaget's system which could diminish some of

its angularities. He says;

> ....What is plain is that the adolescent differs from the child not simply in that he used a propositional calculus that deals with possibilities rather than merely with actualities, but rather that he is forced to deal with possibility by the nature of tasks that he undertakes and by the nature of the unfolding and development of his drives and the social connections required for fulfilling them. It is not an equilibrium which keeps him back in these concrete operational stage and not a new equilibrium that brings him forward. It is the vicissitude of coping with demands- internal and external. The growing enterprise, that is, an adolescent is now operating on a different programme. Logical structures develop a support the new forms of commerce with the world. It is just as plainly the case that the pre-operational child, protected by parents, need not manipulate the world of objects unassisted until the pressure for independence is placed upon him at which time concrete operations emerge. So the concretely operational child need not manipulate the world of potentiality (save on the fantasy

level) until the pressure is put on him, at which point propositionalism begins to mark his thinking. It is no surprise, then, that children of intellectually under-privileged families or of manual workers tend to be less challenged in terms of a sense of possibilities and do not develop what we commonly speak of as an abstract gift(61).

Through the use of his symbolic logic, Piaget is able to discuss the properties of thinking(processes) at various age-levels in terms of what operations children within the age group are capable and incapable of performing. He gives reasons why a particular problem (say Shobha is fairer than Rukmani and Shobha is darker than Shubha, who is the darkest of the three?) cannot be solved by the children within the age group 7-11 years. He said that the thinking of the children is concrete and so they cannot react to the absent situation. Logical operations available to them are not sufficiently generalized: and consequently they can tackle only those problems which are presented to them concretely. To put it in other words, they have not yet evolved a corresponding cognitive structure. When this cognitive structure is present, children try hard to tackle the problem systematically. Trial and error is gradually reduced to the minimum.

Concept of Operations: Prof. Bridgman in U.S.A. was the first to champion that operationalism provides a real meeting ground for psychology and logic. As is known, operations play an important part in logic which is based on an abstract algebra and is made up of symbolic manipulations. Here, operations are considered real psychological activities on which our whole effective knowledge is based. Piaget has therefore attempted to develop a psychological theory of operations which links psychology to logic. Roughly speaking, operation is a means for ' mentally transforming data about the real world', so that they can be later on organized and used selectively in problem solving. Operation is internalized and reversible and thus distinguishes itself from a simple action or goal directed behaviour. Consider Piaget's definition of operations:

> Psychologically, operations are actions which are internalizable, reversible, and co-ordinated into system characterised by laws which apply to the system as a whole. They are actions since they are carried out on objects before being performed on symbols. They are internalizable, since they can

also be carried out in thought without losing their original character of actions. They are reversible as against simple actions which are irreversible. In this way, the operation of combining can be inverted immediately into the operation of dissociation.....Finally,since operations do not exist in isolation,they are connected in the form of structures wholes(62).

These operations evolve gradually and one can distinguish four main stages in their development,these being the Sensori Motor, Preoperational, Concrete and Formal which cover period from birth to maturity(59).

Basic Ideas. It is difficult to summarize the basic ideas of Jean Piaget for he and his coworkers have contributed immensely to the whole field of psychology; perception, reasoning, intelligence, dreams, moral development, space, time, play, thinking from early childhood to late adolescence and other varied problem areas. It is interesting to note that he has devised highly theoretical, abstract and imaginative frame of reference which have won world wide fame; and are admired highly by researchers on cognitive development with little concern to th' theoretical frame. In this

context even Flavell, the best American Publicity Officer, Piaget so far has, is no exception. It is then least surprising that he evokes extreme comments on his work. James J.Gallagher has attempted the following five major themes like conceptual schemes in science running through Piaget's work on the ' development of intelligence as part of the more general process of biological development'. These are:-

(a) Continuous and progressive changes take place in the structures of behaviour and thought in the developing child.

(b) Successive structures made their appearance in a fixed order.

(c) The nature of accommodation(adaptive change to outer circumstances) suggests that the rate of development is, to a considerable degree, a function of the child's encounters with his environment.

(d) Thought processes are conceived to originate through a process of internalizing actions. Intelligence increases as thought processes are loosened from their bases in perception and action & thereby become reversible, transitive, associative, and so on.

(e) A close relationship exists between thought processes and properties of logic(63).

These are very broad as well as grand hypotheses. Let us, therefore, consider some of the basic ideas of Piaget with special reference to the teaching and learning of science.

(A) There is a constant interaction between the organism and the environment. It is out of this encounter that the intellectual structures are born. Piaget, here, introduces two basic invariants of functioning, namely, organization and adaptation which are not only inseparable from each other but also are 'two complementary processes of a single mechanism, the first being the internal aspect of the cycle of which the adaptation constitutes the external aspect'(64). This dual functional invariant of organization and adaptation is expressed by the 'accord of thought with things and the accord of thought with itself'(64). In other words, thought adapts itself to things and gets organized to structure things in turn(64). In case of adaptation, there are two interrelated components, namely, assimilation and accommodation. These are two fundamental processes, the former refers to the absorption and integration of new experiences with the existing schemata and the latter refers to the modification of schemata as the result of the new

experiences. It may be mentioned here that adaptation is a unitary event and so assimilation and accommodation are merely abstract concepts drawn from this unitary reality which are inseparable, indissociable and simultaneous as they operate in a living cognition-' intellectual acts alw always presuppose each in some measure'. This is something like the concept of 'epignesis', a term borrowed from zoology where the ' function remains the same and the structure changes'(24).) While expounding Piaget's basic ideas, Maier says:

> .... Experiences are taken in only as far as the individual himself can preserve and consolidate them in terms of his own subjective experience. Thus the individual experiences an event as he conceives it. Accommodation is directly converse to assimilation, and represents the impact of the actual environment. To accommodate is to conceive and to incorporate the environmental experience as it truly is. For instance, a loud noise of a door falling shut unexpectedly as assimilated according to its impact upon the individual hearing it; the nature of the noise experienced is determined by the way the individual interprets it. However, the individual also, in varying degrees, adapts to the

noise for what it actually represented: that is,he accommodates the experience. Thus,both processes always act together. They are interlocked and simultaneously involve conflicting forces between opposite poles; that is, assimilation is always balanced by the force of accommodation,while accommodation is possible only with the function of assimilation. An environmental object is never experienced unless it has a personal, assimilative impact. Piaget stresses that an object can never exist unto itself,it always involves assimilation and accommodation on the part of the experience. To repeat, processes of both assimilation and accommodation provide complementary,but opposing pulls. A pull to think to feel and to act as previously experienced is challenged by a pull to think, to feel, and to act according to the realistic demands of the new situation. Although Piaget's theory is built upon these biological models of homeostasis, he warns us as recently as 1953, " We describe behaviour in physiologic or behaviouristic terms. We describe in toto, but we do not know the underlying processes(59.).

Flavell further elucidates:

> In summary, the functional characteristics of the assimilatory and accomodatory mechanisms are such that the possibility of cognitive change is insured, but the magnitude of any given change is always limited. The organism adapts repeatedly, and each adaptation necessarily paves the way for its successor. Structures are not infinitely modifiable, however, and not everything which is potentially assimilable can in fact be assimilated by organism A at point X in his development. On the contrary, the subject can incorporate only those components of reality which its on going structure can assimilate without drastic change(66).

Lastly, in this interaction, it is not possible to find the proportionate contribution either of environment or that of organism to the total development. While surveying the evidence for an against the predetermined development, Hunt supports the view that 'analysis of variance model in understanding this mutual interaction is meaningless'(67).

B. It will not be inappropriate, if we elucidate some of his ideas withthe help of Kelvin scale, which is usually mentioned in physics textbooks(65). This is an

open-ended scale in which both the highest and lowest temperatures are left unfixed. It is quite difficult to place a restriction on the highest temperature, that is, maximally possible and in regard to the other, scientists get into difficulties when they try hard to obtain the lowest temperature(absolute zero) in the laboratory. Except these two limitations, this scale is quite useful to the physicists. It is possible to visualize the same thing for this mutual encounter (inter-action) between the organism and the environment out of which intellectual structures evolve. The beginningof this mutual interaction is difficult to fix due to our inadequate knowledge on the beginning of life and its mysterious reproduction; and added to this is the past history of mankind itself. Similarly difficulties arise

when we attempt to fix the other end of the scale, the main difficulty being the very evolutionary nature of the knowledge itself accelerated in our times with time dimensions held in posterity. Piaget then attempts in a high way how scientific and mathematical concepts develop on this continuum. The main features of this scale are now mentioned below:-

(a) When taken in isolation, it is independent of heredity or individual experience. It depends upon both

for only then the human mind is able to create new and never novelties.

(b) On this scale, there are four main stages covering the approximate periods of 0-2 years, 2-7 years, 7-11 years and 11-15 years called the sensorimotor development stage, preoperational stage, concrete stage and the formal stage. Each stage grows horizontally as well as vertically.

(c) Each stage takes time to form and attain equilibrium. Each stage thus formed and attained is incorporated into the succeeding stage. Thus the succeeding stage incorporates the gains of the preceding stage. These stages follow each other in a fixed order for the majority of the normal pupils in which the specified age ranges can very from culture to culture. Thus, there is no rigidity regarding the age ranges. Further, it has been seen by Inhelder on the basis of longitudinal studies that intellectual development appears to be slightly accelerated.

(d) Individual differences at a particular stage are disregarded and similarly the specific differences arising due to the specific situations or experiences are disregarded but Piaget concerns himself with the sequence of development of child's thought. Majority of the children pass through these stages invariably.

e) Piaget describes cognitive development in terms of stages, which as such do not clarify anything except logical steps obtained on a particular problematic situation. Piaget goes ahead and investigates further the structure of these concepts(stages) with the help of symbolic logic. It is this work which he substantiates mathematically that gives his work a superb distinction.

f) With the help of his symbolic logic, he distinguishes among the availability of various logical operations at various age levels. In fact, he pinpoints the strengths and weaknesses of the thinking processes at various age levels and appears to give convincing reasons why the children behave as they do in his experimental tasks. These findings, he generalizes for all children in his highly abstract theoretical frame of reference which is deeply rooted in epistemology. Some of the distinctions stage-wise are:

(i) At the first stage, child lives in his own practical world and he explores various possibilities for his activities. He does not develop self-knowledge and self-consciousness about himself. He lacks language and therefore mainly performs overt activities.

(ii) At the second stage, his thinking is governed by the perceptual considerations of the situations. He makes the judgement as he sees the situation. He cannot resolve his conflicting statements.

(iii) All verbal thought is not formal. It may have in it a situation which is in fact concrete. So a formal problem may be solved concretely.

(iv) At the third stage, the subject is tied to the concrete situation or the empirical data. He criticizes data and brings extraneous considerations into the problem situation. He understands the content of the problem but fails to appreciate the form of the argument. At the fourth stage, on the other hand, possibility dominates and reality becomes secondary.

(v) Combinativity, reversibility, associativity and identity, etc., available at the concrete stage are shown to be generalized at the formal stage. This explains the emergence of operational schemata like combinational, proportional, mechanical equilibria, correlations and probabilities, etc., at the beginning of the fourth stage.

Piaget formulates the properties of these thinking processes available both at the concrete stage and the form -al stage in such a way as to include both, that is, their 'mobile equilibrium and their ontogenetic formation'.

(g) It is then easy to see the point that all thought is not formal. It may have in it a situation which is in fact concrete. So a formal problem may be solved concretely.

(h) Piaget analyses thought activities(interiorization of activities) in terms of groups or systems of operations which are relational and posses the following attributes:

a. Composition: Any two operations can be combined to produce a new operation.

b. Reversibility(inversion): Two operations combine which can be separated again. One can return to the starting point.

c. Associativity: The same operation may be obtained by combining individual operations in different ways.

d. Identity: Combining an operation with its inverse which annuls it.

e. Technology: It has a special meaning here. Repeating a logical operation only gives repetition or tautology: Z+Z=Z because Z is Z (68).

The above are simple structures(which Piaget calls Elementary Groupements) which are available to the children at the concrete stage. These are, definitely, limited in scope when compared to lattices or to the groups characterizing propositional operations or the operations of classes and relations in their most general form', for example, Boolean Algebra. These have not yet acquired a complete combinatorial character. This in fact evolves at the formal stage and is called the groupement of the second order which is more comprehensible and general and corresponds to later mental structures. To put in simple words, there is a higher degree of reversibility at the formal stage as compared to the concrete stage. Negation (inversion) and reciprocity the two forms of reversibility get united at the formal stage in a complete operational system which was not the case earlier. At the same time, they also' correspond to the model co-ordinated transformations which are'fundamental in thought'. They are ' the operation(identity), its inverse(negation), the reciprocal of the original operation and its inverse (reciprocity) and finally the negation of this reciprocal (correlate)'. Piaget then says:

..... the construction of propositional operation is accompanied by a series of changes in the subject's

capacity to perform operations. The different schemata which he acquires are shown to imply not merely isolated propositional operations, but the structured wholes themselves (the lattice and group INRC) which the propositional operations exemplify. The structured whole, considered as the form of equilibrium of fundamental psychological importance, which is why the logical (algebraic) analysis or such structures gives the psychologist an indispensable instrument of explanation and prediction(69).

It is no wonder then that the children at the formal stage are in a position to obtain experimental proofs, find methods of discovery and develop insight into the nature of proof. They acquire operational abilities(towards the end of this stage) which make possible the undertaking of first class constructive activities in the development of scientific and mathematical knowledge.

Lastly, the process does not stop here. It continues still further. An equilibrium at a much higher level is obtained (say in case of a mature scientist) which has a link with its predecessor stage. The scale thus tends to be open-ended for the simple reason that the human mind, according to Piaget, goes on creating exciting novelties over the years(56).

The Elucidation of Stages. Let us now refer to the formal period which begins at about 11 years, reaches equilibrium at about fifteen years and finally leads on to adult logic. In this period, they learn to handle increasing -ly more and more complex logical operations which belong to the calculus of operations. They have the potentiality to perform all those logical operations which are employed by the research scientists, mathematicians, philosophers, historians and even literary critics in their works. To concretize, the adolescent pupils develop the ability to reason by hypotheses based on a logic of all possible combinations, they can deduce their implications, test and verify them. They do not criticize data but appear to accept the hypothetical data even though it may be wrong(suppose the donkey has two horns!) Their thinking is no longer tied to the real(concrete)situation. They imagine and consider all sorts of hypotheses and possibilities Reality which dominated thinking at the concrete stage is now subordinated to possibility at the formal stage. Further, they test their hypotheses by setting up control experiments and even they go to the extent of finding empirical and mathematical proofs for their observations. One sees at this stage, the emergency of systematic approach where there was earlier, largely, speaking,

a cognitive random behaviour. This is so because at this stage, they seriously look into contradictions,and flaws in reasoning and successfully tackle the whole problematic situation by considering even its basic premises,if judged necessary. The reason for this is that' there is a new means of generalization and differentiation especially applicable to the eventual integration hitherto 'unintegrated and undifferentiated structured whole'. Assimilation and accommodation obtain a comparatively higher equilibrium in this period by' integrating into unconscious and spontaneously carried out processes of human fuctioning(69).

The construction of propositions is not the only distinguishing characteristic of this period. New operational schemata (apparantly unrelated to each other at the beginning) appear at about 11 + . These operational schemata are: Combinatorial operations in general (combination, permutations, aggregations); proportion(large number of different kinds of experiments dealing with motion, geometrical relations, probabilities as a function of the law of large numbers, and weight and distance relationships on the two arms of a balance); mechanical equilibrium and others relating to probabilities, correlations and multiplicative compensations. According to Piaget, the gains of this formal period are:

.. This fourth period therefore includes two

important acquisitions. Firstly, the logic of propositions, which is both a formal structure holding independently of content and a general structure coordinating the various logical operations into a single system. Secondly a series of operational schemata which have no apparent connection with each other nor with the logic of propositions.

...Justifies the following conclusion: the construction of propositional operations is accompanied by a series of changes in the subject's capacity to perform operations. The different schemata which he acquires are shown to imply not merely isolated propositional operations, but the structured wholes themselves (the lattice and the group INRC) which the propositional operations exemplify. The structured whole, considered as the form of equilibrium of the subject's operational behaviour, is therefore of fundamental psychological importance, which is why the logical (algebraic) analysis of such structures give the psychologist an indispensable instrument of explanation and prediction(71).

It is quite possible for the adolescent pupil to scover quite a few physical laws, for example, law of

inertia himself unaided. Why? Because earlier, the small child has 'touched, smelt, felt, dug, and climbed'. Now he is building up on this experience by ' pouring, testing, and experimenting' with a view to find sense in the world around him through self discovery(52). This shows that at this stage, new thinking skills begin to appear for he is beginning to commit himself to possibilities rather than to realities. He does not now hesitate to invert reality and possibilities. He can separate himself from the problematic situation and thus have a look at the phenomenon at a distance. To illustrate the above mentioned example on the law of inertia, he rolls balls of different sizes on a smooth surface. He finds that, whatever may be the smoothness of the surface, each ball stops after some time or over a certain distance. His reason now will not be the force applied to the ball but actually the resistance offered by the surface over which the ball rolls. It is a new variable for the nature of the surface is a factor which is outside the following variable, namely,(i) the force with which the ball is thrown, (ii) the size of the ball and(iii) the nature of the ball. This is not true only for the law of inertia. Other physical principles and laws not yet taught at school can also be discovered by the adolescent pupils of

average intelligence, some examples being the laws of reflection, Archimedes ' principle, real depth divided by apparent depth equaling refractive index, law of lever and f x D= 100 when focal length is expressed in cms. and D in dioptres(70,72). The can deduce the conseouences of their tentative statements, or trial ideas for testing and verification.

There is a distinct difference between the concrete and the formal stage. At the former stage, all intellectual efforts expanded and intensified on a horizontal plane. Thinking was tied to the concrete situation and was verified or even tested within the context of the experimental situation. But, at adolescence, thinking goes beyond the immediate present and attempts are made by the adolescent pupils to establish as many vertical relationships as possible. Notions, ideas and concepts are formed which belong to the past, present and future. All sorts of hypotheses and possibilities are considered and their implications deduced and tested for relevance or irrelevance. Minute details are not at all ignored. At about the end of this period, the adolescent pupils manifest maturity of cognitive thought for they can use symbols in their operational thinking. In short, they think by applying symbols of thinking or to put in other words, they develop

concepts of concepts, a sort of second and third order reflection. While rolling balls on an inclined plane, B. Inhelder noticed a progressive change in their attitudes toward the problem solving task which became gradually objective with age. To illustrate, five to seven year olds failed to record the experiments, to reproduce them and to manifest the objective attitude. They were, in fact, overwhelmed by the situation for they were only interested that they could do to set the balls in motion. Seven to elevent year olds comparatively showed a more objective attitude for they made measurements and comparisons. Even then, they failed to discover the underlying principle. But for the adolescent pupils, the very problematic situation itself provoked them to think and' attempt at deduction and verification of hypotheses'. Why. it challenged them to interpret facts and thereby interpretations themselves became an integral part of the intellectual reconstruction. Here, E.M.Churchill then quotes Isaac Nathan who has explored at depth the educational implications of Piaget's theory:

> There are certain basic concepts which pervade and largely control the whole structure of our ordinary adult thought. Chief among these are the notions of speech and time, reality and all causation; number,

order, measure, shape and size; motion, speed, force and energy and the ideas of the fundamental logical relations, like those of whole and part, classes, class-hierarchies and their members, and implication. Most of us, of course, would not be able, and would not feel called upon to try to formulate these concepts in strict intellectual terms. But they function in all of us, and function in a highly organized and structured way and it is they that provide the coherent framework of our normal thought world through which we order all the succession of impressions, happenings and experiences which flow in upon us.

Children pick up most of these words, or words connected with them, quite soon and learn to use them in the right situation. This leads to assume, very naturally, that they have the corresponding ideas, at least, in a simple and elementary form. But, here according to Piaget's findings, we are in the main quite wrong.

Thus we end up with a tremendous contrast, above all in the early years of the child, between the onward show of his use of language and the inward reality of the actual level of organization and cohersion of his thought. The basic organizing

concepts are to all appearance not there yet, and thus have not yet done their work. Hence, beneath the surface, the world of flux to which all Piaget's experiments with children of four to six so eloquently testify. Towards seven to eight, as we have seen, the contrast lessons; the organizing concepts are starting to take shape and their work begins to show. Yet it is only at eleven to fourteen that, in the average child, the contrast really disappears. The inward psychological reality joins up with the facade and Piaget's soundings bring out everywhere, just the same kind of responses as any of us adults might give. The child now lives in the same functional thought world as we do(74).

Nathan Isaac then asks: in the light of the above, what is the real status of the so-called progressive education from the nursery education upwards? Can teacher intervene effectively when intellectual development is an inward affair? Does it mean that the progressive should emphasize and concentrate on the social, aesthetic or the dramatic aspect of the child's personality? Piaget admits that these conditions of communal life are quite conducive to the intellectual development. These disturbing questions perforce arise if we accept Piaget's findings in toto. But the facts, on the other side, are also too real

and massive and can't be ignored altogether. A necessity therefore arises, to correct or supplement these facts in a comprehensive psychological frame of reference, which may give us rich educational harvest. To quote Hyde:

> There is scope for all, the clinician can study the abnormal functioning of the structure, the educationist the effects of training on its growth, the sociologist, the effects of environment and others, modifications due to individual differences. The body of knowledge about children that may eventually result from his work, directly or indirectly is incalculable(75).

3. Accelerated Learning.

It is characteristic of our times that as soon as we understand a process we ask ourselves the question whether we can accelerate that process or not. We do not have a definite answer to this question. However, let us consider here the views of some well known psychologists.

(a) Vygotsky's View. Piaget leaves us wondering about the educational implications of his work. Vygotsky goes a step further by saying somewhat as follows.

According to him, ' instruction precedes development' (76). He, therefore, analyses intellectual development as a function of instruction explicitly. For him, concepts do not exist in isolation like ' peas in a bag'. Each concept is a ' measure of generality' and they interact with each other. Each concept fits in a certain hierarchy where higher concepts throw light on lower concepts, for example, algebraic concepts throw light on arithmetic concepts. Further,he distinguishes between two types of concepts, namely,everyday concepts(spontaneous concepts) and scientific concepts (non-spontaneous). They develop in opposite directions but it is the instruction which is the main source of child's ideas; which corrects, informs and develops his knowledge. Instruction is not something external but is seen to be integrated closely with development. So planned instruction can accelerate mental development(cognitive functions). We should then aim at the ' ripening of such functions'. Piaget and Vygotsky along with the concept of ' productive thought' thrown in from Gestalt psychology it appears, present an integrated viewpoint to the teachers for teaching science effectively(70).

(b) Z.P. Diene's View. His work is on the concepts of abstraction and generalization but with this limitation that he has studied the attainment of specific mathematical

concepts in depth. He then in his work distinguishes between the constructive thinker and the analytic thinker. The former takes an overall view of the goal, works intuitively towards it, does not concern himself with the details in the beginning but may attend to them later on. Such children, according to him, manifest constructive thought and are at the concrete stage of their mental development. On the other hand, the analytic thinker progresses towards the goal(which is undefined in the beginning) consciously step by step as demanded by the ' logical requirements within the system'. Children at the formal stage of development exhibit analytic thinking. The emergence of the analytic thought becomes highly probable when constructive thought has already been well developed. There may be certain cases when poor constructive thinkers may manifest analytic thinking. In that case, one can be pretty sure that they have manifested ' shadow actions without any logical significance' in the absence of any (developed) insight into the logical sequence of various events. He then emphasizes that majority of children need a lot of constructive activities befofe we can expect them to develop analytic understanding. He has investigated and illustrated his ideas with the help of his specially co

constructed (for the purpose) multibase arithmetic base and algebraic experiences material. He has then formulated four principles of conceptual learning, these being the dynamic principles, the perceptual variability principle, the mathematical variability principle and the constructivity principle. Our gains will be immense if we classify the whole science syllabus (also true of some other school subjects)at these four levels in the form of learning situations to be gradually presented at various age levels. Accelerated scientific and mathematical thinking may then result(77).

(c) Advances in knowledge take place when assumptions underlying thought processes (as understood) are questioned. For example, J.S.Bruner, Benjamin Bloom and J.McV. Hunt believe

> That an individual's achievement in life depends very largely on what he has been helped to learn before the age of four, for that is when human intelligence grows most rapidly and the roots of intellectual curiosity are laid. They also believe that millions of children are being irreparably damaged because they do not learn enough during this crucial period. The result of an unplanned intellectual died in the early years-- for middle class children-- may be a loss of brilliance, a blunted and less interesting life, smaller contribution to society. But for the children of poverty, the

consequence is nearly always disaster- a preordained failure in school and adult life(78).

Convinced by the above statement, two psychologists (they appear to be mad) Bereiter and Engelmann at the Institute for Research on Exceptional Children of the University of Illinois in Urbana are ' operating an intellectual pressure cooker'. They have rejected the usual philosophy considered progressive in the play-oriented nursery schools. On the other hand, they'concentrate fiercely on a few areas and drill the children like Marines for two hours a day'. Consider their approach in a mathematics lesson with four pupils, two boys and two girls:

> It is time to think about...work! he began fairly shouting. Are you ready for tough stuff? On the blackboard, he wrote 8 + 3 = ? Immediately the children started to roar, ' Eight plus zero equals eight, eight plus one equals nine, eight plus two equals ten, eight plus three equals eleven and the sums like 15 + a = 18 and 7- b = 2. It looks like algebra for the four-year-olds(78).

Very soon, these disadvantaged four-year-olds are ~~ble~~ to 'unpack' or extract meanings from the statements. They

can speak in sentences. The students get an experience of success because the educational programme(in a very narrow sense) is geared to their capacities and capabilities. Teachers have faith and confidence in their children and,in turn, children have faith and confidence in their teachers and these arise in the very process of work from deep involvement and commitment in a common task. Regarding this project, J.McV. Hunt says:

> There is evidence of more changes in Bereiter's school than in any other I have seen. When he set up his class last year, the children tested 'under-age-three' on the Illinois Test of Psycho-linguistic Abilities. They did not talk to each other at all except in single words and grunts. In each of two-three-month periods of this school, they gained about one year of psycholinguistic ability on the tests (78).

(d) In England, Wall has drawn pointedly the attention of the teachers to' distinguish between the logical structure of a subject, process or technique, and the psychological mode in which it is taught'. If a teacher presents a notion, action or technique concretely and is found of interest and immediate value by the child, it is quite possible for the

child to acquire it at an earlier age than hither-to considered than 'if it is unrelated to his interests and presented in a symbolic, abstract or generalized way'(79). The reason for this is that even content remaining more or less the same, the psychological processes involved are different(79).

Hyram has pointed out that children's school work improved when they were trained in logical operations(80). Morf has also found that children were induced to learn 'certain operations of class inclusions by emplying a method involving direct training on the operations of logical multiplication'(81). But investigations of Lovell and Ogilvie and Dowedell do not favour the acceleration of concept formation when training in logical operations is given to the students(81). We can, however, safely conclude that a very potential and fruitful area of research awaits invasion by the educational psychologists, and teachers in particulars.

(e) J.G.Wallace in his recent book on Stages and Transition in conceptual Development, has also referred at depth to the problems underlying such studies, the problems being philosophical, psychological and technical(85). There are problems for the practitioners as well when not only sub-normal but also normal pupils fail to form Schemata which they ought to have in their normal course of development. For

example, Elkind found that about 58 per cent of the American Adolescents in the age group 12-18 year olds failed to conserve volume(83). Hence, there is a scope for improvement here because, when left to themselves, they cannot perform this job themselves efficiently. " The end in view is, then, the production of adults possessing a comprehensive range of cognitive tools, as Flavell and Wohlwill have put it ' not at first but at last, not the fustest but with the mostest'(84). In such studies, what would be our gains for children? According to Wholwill, these may be ' in a particular response a group of particular responses, a more general notion' similar to operation as defined by Piaget(84). Secondly, is the process entirely new in contrast to the process normally developing one? Examining the problem from varied view points, J.G.Wallace summarizes the situations as follows:-

> .. a definitive answer to the question of the nature of the relationship between the processes evoked by training sequences and those which figure in 'normal' development is still a considerable way off'. Taken in conjunction with the only slightly more clear evidence on the question of the authenticity of the changes in performance produced by training, this assessment supports the conclusion that the case against the educational

utility of acceleration studies remains to be proved. In the interim, their potential practical contribution in the search for methods sufficient to produce the attainment of particular landmarks in cognitive development appeals to make the continuation of acceleration studies worthwhile. The balance of the evidence suggests that future studies should conform to certain guidelines if they are to make the maximum contribution possible on both the empirical and theoretical planes. The acceleration treatments used should be based on task or process analyses at the level of detail exemplified in the work of Gagne'(1968) or Klahr & Wallace (1970). They should, also include an extended series of relevant learning experiences involving the use of a wide variety of materials and presented in a sufficiently non-directive fashion to allow children to employ their own preferred modes of mediation....

It would be a rash reviewer who would suggest that solutions to these problems lie just round the corner. The road to the cognitive researcher's' hell is paved with such optimistic prognoses. Sufficient be it to say that the present tendency to tackle

complex issues with complex instruments is sufficien-
tly encouraging to tempt the writer to conclude
with the assertion that in 1971 the outlook for
research on conceptualization and in the wider area
of cognitive development appears to be considerably
brighter than in 1963(85).

Lastly ,it may be mentioned that research in this area is just coming up. It is, therefore, not possible to answer the question whether accelerated thinking can result or not. Over generalization in this area may be quite dangerous. But it appears that accelerated thinking under certain conditions and within certain elastic limits is possible. It is not impossible to teach atomic and set theories in the primary school by the new enthusiasts. But they are mistaken if they think that change of content or downgrading of content in itself is a complete reform, Substantial and complete reforms result only when relevant material drawn from the significant areas of human living as the subject of study itself is used to develop and improve thinking through imaginative approaches. Here, well- structured experiences need to be designed,imparted and then evaluated.

Problem at the focus of attention, reasonable freed

including flexible time-tabling and permissive and responsive environment go a long way in imparting inquiry skills to the pupils. Under these conditions, children accept the teacher's word after full consideration of the relevant data including the necessary experimentation. In this triple process of concept formation, concept attainment and problem solving, incomplete hypotheses expand to complete hypotheses by appropriate rectifications where one strategy, if it does not work, leads to another strategy. Children then take into consideration the significant aspect(elements)of the problem. During attack on the problem, they develop their own insights and gather and develop new information, knowledge and skills. The consequent knowledge obtained through self-involvement in the problematic situation is not only meaningful but also very stable in character. It is no wonder then that cognitive structures are modified materially and are available for subsequent use. This availability is not as direct as one may get the impression because our environment under natural(or even otherwise) conditions creates expectances and violates them off and on; and this exerts an educative influence. This is a more difficult job for the teacher to accomplish in comparison to the teaching of the few isolated junks of advanced knowledge in the school syllabus. The teacher's difficulties increase manifold if he looks to the educational psychologists for help and guidance. This is, atleast, true in this country(17).

...

S E C T I O N   C

S U R V E Y OF R E L A T E D S T U D I E S

O N P R O B L E M S O L V I N G

I N S C I E N C E .

1. Status of Research:

About sixteen years ago, D.Wheeler said," It is strange that at a time when there has been a rapidly increasing need to select and educate those who are specially suited for training in scientific work, the psychological study of the processes underlying scientific reasoning has been so widely neglected"(86). About eleven years ago, it was alleged that research in American Science education is inadequate for it suffers from limited imagination, evaluating outgoing practice instead of ' functioning as beacon and too many no significant differences studies' making suspect both the tools or the hypotheses under study (87). The same tradition appears to continue when Wayne W.Welch, while reviewing research in science education at the secondary level for the biennium 1968-69, says:

> ...It is a distillation and characterisation of the research efforts of science educators. Specific references have been pointed out in the various sections and several documents have been used to illustrate the points. Much of the work appears fragmented and uninspiring. Perhaps this is due to the fact that motivation for most of the work is completing some external requirement, a thesis or funding report, rather than generating knowledge

about the educational process. This hypothesis is supported in some sense by the quality of work that appears in a few places that have on going research projects associated with them. There is hope for educational research only when experienced researchers are able to devote the majority of their time to seeking the answers to important questions. At present, we are far from that goal(88).

At home, the situation in regard to Research in Science Education is quite depressing because Research Career in Science Education is the least rewarding. In fact, it is a research desert characterized by the lack of personnel, problems and publicity. It is recently that the National Council of Educational Research and Training and the All India Science Teachers Association have done a bit in this direction. In a very recent publication on a Survey of Research in Education, D.B.Desai and Sunirmal Roy deplore the quality and quantity of researches conducted in the area of curriculum, methods and textbooks for ' most of them have centered round the surface problems, and that too, covering the middle and secondary school stages only'(89). Out of ten studies reported four are in science, five in mathematics and one in Home Science. They then add:

> Research in curriculum and instruction deserves more attention than it has received so far. Even

in the advanced countries of the world, it is criticized as being inadequate, out moded and not properly designed to meet the needs of modern society. Against the background of striking curricular developments in those countries, the school curriculum in India is narrowly conceived largely out of date.

.... The studies on teaching methods hardly made any significant impact. Most of them compared some sort of practical biased approach of instruction with the traditional 'chalk and talk' method and branded the former as progressive or effective without caring to go a bit deep into the fact as to why, in what way or how it was so. In a word, no approach was made towards a consistent theory of teaching. Another most significant fact about these studies under review was that quite a large number of them was not grounded on sound methodology. The limited scope of their sampling restricted, to a great extent the validity of their generalizations(89).

On reflection, these critical remarks apply to the frame of reference rather than to individual studies which when seen cumulatively do strike a note of optimism. This view point is confirmed by the studies summarized below(90).

2. Varied Studies Surveyed

G. Stanley Hall studied the contents of Children's minds and thereby emphasized the importance of primary or first hand experience rather than bookish knowledge. He further stated a well known educational principle (known to unknown) " Concepts which are most common in a given locality are the earliest acquired, less frequent ones come later, no one child has all the misconceptions recorded, none is free from them.... The fact that children see objects a hundred times without acquiring consciousness of them suggest that we need to converse with children about common things"(91). Keen studied children's reasoning and found that children under study has ' weak urge for experimental verification'. children are sure to develop illogical concepts if teacher does not take sufficient care while introducing new experiences to them(91). Deutsche, examined the nature and development of causal reasoning- a phase of children's thinking in the context of the Geneva School with the aid of the problems with and without experiments. She noticed a gradual growth of reasoning in contrast to stagewise growth as suggested by Piaget. Secondly, she did not find the detailed classification of reasoning into seventeen types useful as found by Piaget. Thirdly, school

experience explained specific responses to the specific questions which she suggested had direct and indirect implications for teaching and training children(91). Oakes investigated qualitatively children's explanations of natural phenomena and concluded that all age groups regardless of mental ability and grade gave all types of answers. Further, adult groups did not follow any definite procedure while explaining unfamiliar phenomena. Thirdly, he did not find a definite stage in children's thinking characteristic of a given age(92). He thus confirmed the earlier findings of Deutsche, Keen Hazlitt, Johnson and Josey, Susan Issac and Haung, who had found that both American and Chinese children 'gave naturalistic factual and logical explanations of phenomena'(93). W.F.King, while exploring the development of scientific concepts of children (N = 1235 between 5 to 12 years) with the aid of seventy questions suitably classified into five categories: 'Length, weight, time, direction; volume and weight; mainly mechanical principles, lever , wheels, living things; seasons and shadows concluded;

(a) Children at all ages gave all sorts of responses.

(b) Like Oakes, no stages in causal reasoning as propounded by Piaget were noticed. Response appeared to be, largely speaking, the function of question rather than solely the function of age.

(c) Some children showed difficulty in verbalizing their concepts which in fact they had understood as earlier reported by D.H.Russell. He then added:

> Perhaps, there is a need about eight or nine years of age for the harnessing of this experience so that knowledge can be obtained by other, though not necessarily more formal, means. These experiments have shown that children of primary school age have accumulated a knowledge of scientific facts and that this knowledge increases with age in some cases very steadily. Some of the answers had to be obtained by reasoning on the basis of past experience and these also showed steady increase with age upto 8 or 9 years. Beyond that, a priori reasoning was not sufficient & adult guidance and explanation seemed essential, at least, in concepts relating to estimation of length, direction, weight and volume(94).

Brooks studied the development of children's thought (11 + to 13 +) with the help of demonstration experiments which illustrated certain scientific principles. The subjects were low I.Q. pupils studying in a secondary Modern School in England. His main aim was to find out the relationship, if any, between the kind of answer given

and the age and I.Q. of the individual pupil. Deutsche's classification(materialistic and non-materialistic) was used. His results showed that these children can explain experiments which are performed before them intelligently. Second -ly," age and science teaching had a greater effect on the ability to draw conclusions than did I.Q. but those with high I.Q. did better in the number of explanations in the higher categories(95). Using auto-instructional device, Keisler and McNeil found that contrary to the view of Piaget, six and seven year old children can give acceptable scientific explanations for physical events. They can not only learn abstract principles but also with some practice, would probably show' more facile expression and more accurate use of scientific language in the solution of new problems'(96). Navarra investigated the conceptual development of his own son (very young and above average in innate ability) over a period of two years. This study is rich in detail and the observations are first hand. Moreover the observations were based upon informal conversations. The most important findings of his study were:

(a) The development is gradual and its most interesting and characteristic feature is the long period necessary for integration during which the child gathers together and inter-prets for himself the experience encountered in highly diverse situations, e.g., seeing water in its different forms and distinguishing it from steam or distinguishing steam from smoke.

(b) In this development, there appeared the evidence of ' gradual differentiation and development of expectancies, testing ideas, analysing experience, finding positive and negative instances and maintenance of an inquiring attitude' etc. Even the earlier insignificant details and concerns were seen to have initiated growth later on or constituted a progression of events in the total frame of reference(97). The study, however, lacked comparison with the findings of Piaget.

In an observational and analytical study on thought processes of school children and college students, Buswell found ' variety rather than similarity in the sequence of thinking'; and failure to solve the problem attracts all sorts of hypotheses. Benjamin Burrack concluded that even undergraduate students failed to distinguish among different methods of attack on problems involving induction, deduction and geometrical analysis. On puzzle type situations, Heidbreder found that reactions and sensitivity to problems increased with age; a gradual change with age from a more subjective attitude to a more objective attitude and characteristic and individual reactions to the problems apart from the fact that the 'general pattern of the solution became more general or definite but new rigidity set as the age increased'(98). Mumford found that

training experience and practice influence thinking only if it is regarded as a mental skill based upon innate capacity. She suggested that educative experience is a vital experience in the life of an individual and needs to be handled with great care so as to develop self confidence and persistence in the face of 'disappointments and threats of failure during problem solving'(99). Bloom and Broader showed that the successful problem solvers differed from the unsuccessful ones in respect of the following variables: ' ability to use rather than the possession of the total fund of information; extent of thought brought forward on a problem and attitude towards reasoning, confidence in the problem and the introduction of extraneous considerations into the problem situations"(100). Employing the combined use of experimental statistical and introspective procedures Wheeler concluded that children possess logical reasoning at much earlier age than hitherto assumed by teachers; and ' most of the elementary schemata necessarily for valid reasoning are already within the capacity' of the seven year old children(86). Here, one should not dismiss straight away the very dependence of young children on first hand experience.

In another experimental study of experimental problem

solving by Durkin which resembled Heidbreder and Mumford's work, it was aimed to examine the effect of the nature of the problem solving process and the appropriateness of the concepts used to describe the behaviour involved. Subjects were asked to talk aloud as they proceeded ahead with a well organized series of two dimensional puzzle situations. The problem solving behaviour evoked by these puzzles could be photographed. At the end of the experiment, each subject was asked to retrace his whole situation from the beginning to the end. Any point of interest was discussed. The main findings of this study indicated:

i) Problem solving behaviour in human adults is never at random inspite of the fact that they may not see the relevance of their moves as judged by the goal to be attained.

ii) Three types of solutions were distinguished, namely, trial and error, sudden reorganization and gradual analysis which could be termed as three distinct forms of thinking. Certain transitional cases showed that such distinction was difficult to maintain showing thereby the existence of continuum.

iii) Observation, recall, seeing relations, attention to goal, manipulation and inference were the processes present in all the three forms of thinking(101).

In conclusion, it is not known at what age formal reasoning begins. This age is found to be quite variable due to cultural differences and individual differences within the same culture. The most important question still left unexamined, is this:, whether each individual passes through these stages in succession as enunciated by Piaget and Inhelder or he is able to pick up the higher stage without having developed in him the preceding stage. In other words, this means: Is skipping stages in individual development possible? If this is found to be so, we have yet to know the relationship between the size of the jump and the various conditions both within the individual and outside, that make such jumps possible. In a restricted sense, the area of concept formation is also equally full of problems; possession; and availability of concepts verbally (Smoke); Catergorizing and conceptualizing (J.S.Bruner, Goodnow & Austin) ; relationship between intelligence and types of Piagetian concepts developed(Beard); Varied behaviour in structuring problems right from childhood to late adolescence (Buswell); lack of clarity and distinction among various methods

of attack; clear formulation of the problem, preliminary survey of all aspects of the presented material, analysis into major variables, locating the crucial aspects of the problem, application of the past experience, varied trials, control elimination of the sources of error and visualization (Benjamin Burrack); distinction among different types of solutions; trial & error, sudden reorganization and gradual analysis (Durkin); role of general or specific experience of concept formation; & problem solving(Maier); and characteristic differences in successful and unsuccessful problem solvers.

" Scientific thinking is largely a matter of good thinking habits, " says E.A. Peel(102). It is in the light of this definition that we will survey some more studies on problem solving in general as well as on science teaching relating to laboratory work, scientific inquiry and problem solving in science. All science teachers, largely speaking, try hard to develop good thinking habits among their pupils.

(1) In 1925, Carpenter investigated the comparative effectiveness of laboratory and demonstration methods over 1,000 subjects and concluded that ' pupils equally succeed well if success is measured by instruments which measure

the same abilities as are measured by these tests, namely specific information and ability to think in terms of chemistry". In 1958, Brandwein, Blackwood and Watson [illegible] the tests of Carpenter and commented that both the groups could succeed equally well independent of the above [illegible] methods on the basis of textbook knowledge alone(103).

(2) In 1928, Horton attempted to probe further [illegible] confirmed the above mentioned finding of Carpenter. [illegible] experimental groups were given: Individual laboratory [illegible] without direction, individual laboratory work with [illegible] direction, individual laboratory work with a manual [illegible] direction and demonstration by the teacher. His conclusion was ' no reliable results appear in the testin by the ordinary written examination neither by the [illegible] the school test". With the laboratory tests(non [illegible]) he found the following differences in ability [illegible] and manipulate apparatus and to solve problems([illegible] projects) in the laboratory. In 1958, Frings and [illegible] confirmed Horton's findings(104).

(3) Atkin studied the role of accuracy of response [illegible] type of response (appeal to authority, use of [illegible] appeal to experimental and original explanation [illegible] formulating and suggesting tests for hypotheses [illegible] Elementary School Science Learning Experience. His main finding was that 'pupils are more active, successful [illegible]

they select and work on their problems"(105).

(4) In an experimental study, Lahti ascertained the effectiveness of laboratory in developing student ability to use the scientific method to evaluate the effectiveness of the teaching methods and to design and construct laboratory experiments, and instruments. His evidence supported the following statement of Kruglak;

> There is hardly a better method of teaching scientific method than the one which places the student in the same position as the research scientist, where he faces the same difficulties, commits the same mistakes, suffers the same accidents and explores the same blind alleys(106).

(5) Extending over a period of seven years, Kruglak has investigated some behaviour objectives for laboratory instruction, experimental outcomes of laboratory instruction, achievement of physics students with and without laboratory work, the measurement of laboratory achievement; the effect of high school physics and college laboratory instruction on achievement in college physics and evaluating laboratory work by the use of objective tests etc. He confirmed the findings of Carpenter and Horton(106).

Brandwein, Watson and Blackwood have emphasized the importance of laboratory work in their studies. Children then learn to work carefully, accurately, predict from first principles and select, design, search and improve laboratory equipment and techniques. At about the same time, Brown also made a similar type of investigation but without using any statistical niceties and concluded that ' students who had physics laboratory work in high school were inept at naming or identifying the function of equipment which they were known to have handled in the high school'(107).

(6) Muthulingam also attempted to assess the scientific thinking ability, attainment in science, attitude towards science and interest in the scientific field of boys and girls studying physical sciences in the fifth year of the secondary school in England and Ceylon and contribution of the factors in the schools, such as, the type of science course, the laboratory facilities and methods of teaching science, etc. " A battery of tests was constructed to measure the various aspects of scientific thinking; definition, problematic situation, reasoning, application of principles and ability to analyse and observe etc. Regarding application of principles, he says, " Results of the sub-test on the application of principles in England seem to be in favour of a method of teaching, emphasizing theory and restricted laboratory facilities. " He further adds, " There is, however, evidence for better power of observation

by the provision of good laboratory facilities and practical method of teaching(108).

(7) Charren George investigated the effect of open ended experiments on the achievement of certain objectives of science teaching. Six M.C.A.(Manufacturing Chemists Association) experiments and six comparable traditional laboratory exercises were chosen for the experimental and the control group. The M.C.A. experiments involved certain elements of the scientific method like seeking solution to the problem, to make predictions and to set up apparatus and control experiments. Attempt was also made to test some attributes of critical thinking like ability to interpret data and to associate with the nature of proof etc. The study was carried over 268 students. His main conclusions indicated that open ended experiments like the M.C.A. do succeed to develop scientific attitudes, skills and motivation. Secondly, both open and traditional exercises do result in significant learning. Thirdly, there is no conclusive evidence that a laboratory approach has led to improved critical thinking in chemistry (109).

(8) Butt has studied the degree to which children conceptualize from science experiences. He confronted 24 pupils from the fourth, fifth and sixth grades with science

experiences in order to see concept development arising out of this new experience. Four other questions were also examined: relationship between concept development and chronological age, intelligence and attainment in science, influence of a given concept in the development of a different concept and recognition of a given concept in a new situation or experience. The concepts under study related to displacement, inertia, action, reaction and depth pressure relationship. The experiments were done under three different conditions, namely experience phase, question phase and a manipulation phase. The findings of this study do not support the popular assertion that meaningful concepts will definitely emerge when a child is provided with proper experience or environment and the free opportunity to experience certain perceptions(110). In the opinion of this writer, it would have been better if Butt had considered the causes that contributed to this failure by analysing their wrong responses and interpreting them.

(9) Szekely attempted to investigate 'knowledge as the starting point of independent thinking', by presenting the same problem in three different forms. Different subjects were used for three forms of the same problem. Consider the following problem.

Fig
Showing Szekely's application problem

(a) The candle is lighted and the subject has to explain why the level falls down.

(b) The same arrangement. The subject is asked what would happen if the candle were lighted.

(c) In this case, there is opportunity to find solution through free experimentation(111).

Szekely believed and, therefore, hypothesized that knowledge can be investigated in its' function of end result, starting point and medium of learning and thinking'. He found that knowledge gets reorganized in the process of thinking which starts from the object of thought. Secondly, the three different forms of the situations or presentations of the same problem differ only in the extent of difficulty of restructurization which, in its turn, depends not only upon the piece of knowledge (needed to solve the problem) but also upon the total situation. In addition, Szekely carried out quite a few studies on productive processes in learning and thinking; and then posed the following problem to himself yet to be solved since it was posed about twenty five years ago:

It is well known that different individuals

who have the same knowledge show great differences in the original application of this knowledge. Does the applicability of the knowledge depend solely upon the differences in individual endowment or is it also dependent upon the method of learning and teaching? Is it possible to increase the productive applicability of the knowledge that is the capacity for creative thinking by the improvement of the methods of learning? (111).

Two methods of learning were compared, namely, modern method and the traditional method. As learning materials, a few laws of mechanics served which were to be applied to a relative different task, namely, the problem of two spheres.

The main findings of this study indicated:

a) If judged by the frequency of successful solutions alone, the modern method is superior to the traditional method even when " endowment is taken into consideration." But Maltzman, Eisman and Brooks (1956) have failed to duplicate this finding, According to them," Either method, or a combination of the methods, produced more solutions than a control group with no training but there were no significant differences among the three experimental groups"(111)

b) Productive knowledge evoked in the process of problem solving and the verbal reproducibility of definitions are mutually exclusive of each other. This means that the rote memorization of definition or facts will not guarantee the solution of the problem(111).

c) Improvement of the learning method improves comprehension of the learning material which fosters independent productive thinking later on(111).

It is necessary to replicate this type of study by drawing concepts from the new curricular programmes developed in the wake of Revolution in Science Teaching in relation to several outside variables over a very large sample.

(10) In his investigation of the thought-processes of a group of fourteen year olds during the solution of a scientific problem, Kyle showed, " that abler pupils tend to progress by hind sight." " They tend to jump to the end of certain phases and then to return to fill in the blanks... " A problem only becomes real for person when he has some rudimentary foresight of a tentative solution..." He further showed that ' a doing group went further towards a solution than a thinking group'. This is so because a doing group can rectify its mistakes in the process of experimentation(112)

(11) At the higher age group, Whellock attempted to inquire " into how far scientific method is gained from Science Education." His subjects were sixth-form pupils and military college students. After partialling out differences due to intelligence, he showed a significant relationship between the scores on method and attitude and the scientific background(113).

(12) Mealings investigated certain aspects problem solving in science principles among secondary school children above 100 in number varying in intelligence. Most of the problems were original ones and in fact seem to meet the requirements of complex human tasks as needed in such type of studies. The general aim of his investigation was to understand from first principles, the solving of scientific problems by the adolescent pupils in a normal school- setting. More specifically, his aims were to investigate the relationship between the problem solving ability(at the formal level) and the mental age and to consider the influence of personal attributes on the problem solving ability. Sex differences were also considered. Two series of four experiments in each were administered among two groups of children in turn. A case study approach was employed and the responses were recorded verbatim, then arranged and analysed to see the course of thought on each problem. The main results

of his study indicated that problem solving in science is more related to intelligence than to chronological age.(This is understandable). There appears to be a minimum mental age of 13 years before a child can reason formally about a problem and there is a time lag between the empirical solution and the formal solution. Taking an overall picture, Mealings says we should not expect children to solve abstract and theoretical problems in science until they reach a mental age of 16 plus. It is also possible, at this stage, to undertake topics requiring an understanding of matrical proportions, i.e. Boyle's Law, Ohm's law and theoretical problems concerning moments and specific heat in physics and the laws of chemical combination in chemistry(114).

(13). Neal attempted to ascertain specific procedures that aid children in developing the ability to use methods of scientific inquiry in grades (I to VI) in the laboratory school of Colorado. The author attempted to determine the elements of problems solving to develop and select illustrative teaching techniques, which promote growth in the ability to use the methods of scientific inquiry, to judge the effectiveness of the various teaching techniques and lastly to observe and describe the kind of covert behaviour characterized as the method of scientific inquiry.

Identifying and stating problems, selecting pertinent and adequate data, formulating and evaluating hypotheses and seeing relation were the various methods of scientific inquiry selected. He then concluded that children not only developed scientific interest, confidence and responsibility by the practice of scientific method but were also capable of developing abilities in practising the above mentioned elements of the scientific method(115).

Partly influenced by activity and core patterns of curriculum(including basic notions of community school in the U.S.A., the U.S.S.R., and Phillipines) Willard J.Jacobson in a paper entitled ' Science Education and the Development of Abilities to cope with problematic Life Situations' developed a working frame of reference in which SHOULD rather than HOW questions receive first priority. His main assumption is that " We can and should help individuals and groups to develop the abilities to recognize and cope with problematic life situations of which they are a part". He then sought 'operational answers to the question of how these abilities to cope with problematic situations, could be developed'. For the development of these abilities, he suggested the following three phases: Use of proposals based upon past experience dealing with the development of these abilities through science education; analysis of the

whole act of adjusting with the life situation, and consideration of the same in terms of judgements and values. He thus advocated the use of life situations for their consequences can be seen and felt first hand which, the process ,will help adolescents master dilemma in their own characteristic ways. To quote Jacobson:

> New relationships are difficult to perceive, and a group may eventually reach a point at which they are stymied. In such situations, it may well be fruitful to have a period of rest from the intesive examination of the problem. After a period of time, they will necessarily view the problem from a different point of vantage, and hence, new relationships may appeal. The mysterious period of ' incubation' that has been suggested by Helmholtz and Poincare does have this realization. During the period of rest, some of the extraneous material that was, perhaps, blocking their view of the situation may be forgotten. With the elimination of these elements, the discovery of a new key element, or the new view from a different vantage point as the result of a passage of time, new and fruitful suggestions are more likely to appear(116).

(14) In a practical piece of research, Fleshner has emphasized the importance of children's everyday experience in teaching abstract concepts in Physics. Researches of N.E.Weaver and E.N.Madden have advanced two conditions for success for problem solving, namely, the ' presence of corresponding knowledge' and the ' mastery of research operation'.For example, the concept of weight involves weight for all bodies, earth's pull and force. Open- ended questions were posed to the children. Every child could answer at least a part of the problem. An interesting finding emerged that eighty per cent of the subjects were of the firm opinion that ' bodies which they had not measured had no weights'. Thus there is direct educational implication of the above: the definition(weight here) should not be taught and stressed too much in science teaching but on other hand, it should stem from their floating ideas (living practice) when a given theme is introduced in the classroom (Goriachkin,117).

(15) Stendler is of the opinion that superior intelligence does not imply' superior performance both in linguistic and scientific fields". She emphasizes the importance of well-structured childhood experiences which facilitate learning later on. She explores the following hypothesis: "that certain kinds of childhood experiences structures an individual's perceptions of the physical world, that the percepts are stored

as information cell assemblies in the cortex and that the neural reservoir facilities the learning of concepts in the physical science." Then she discusses the nature of experiences that might contribute to the building of such a neural reservoir. She then suggests the use of teaching models that will help the elementary school pupils develop functional understanding and skills needed for the physical science(118).

(16)N.Vaidya investigated problem solving in science among certain groups of adolescent pupils(15 +). The results of the study indicated that contrary to Piaget's view, the adolescent pupils do not hesitate to criticize data. Secondly, there is a general tendency among adolescent pupils to set up hypotheses which they test against the given data. Thirdly, a poor problem solver appears to stick to one idea at a time stubbornly and, later on, ceases to think of alternative ideas. Consequently, he gives up the problem in disgust. When problems were analysed for their mathematical structure through the technique of factor analysis, the following four factors appeared: Attainment, Practical, Interest and Adjustment. The outstanding conclusion of his study was that Problem Solving Processes derived from different problems as well as analysed differently(using Guttman Scale) confirm and support Piaget in principle (119). But, at the same time, it may be added that the study lacked hypotheses as well as suitable study population(N= 60; and N=31).

(17) Vijaya Lakshmi investigated the thought processes of backward children(12 +) with special reference to the Schemata of Combinatorial Grouping. She also examined continuities and discontinuities in their thinking with the help of scaleogram of problem-solving processes. The coefficient of fluctuation came out to be 49.7, which was on the high side. But when the various responses or thought- processes were appropr-iately grouped, the coefficient of fluctuation came out to be 5.6 per cent, that is, within acceptable limits. This showed that appropriately grouped processes of thought within a restricted age-range constitute a Guttman Scale(120). Using Piaget type tasks in arithmetic, K.R.Sayal, concluded that items relating to the algebraic symbols and the scheme of proportion are hardly mastered by the 11 year old children. Secondly, they are capable of showing more thinking than they are deemed to have as judged by class teachers on their achievement in mathematics. Thirdly, the top group was influenced more by the form rather than the content of the problems in comparison to the bottom group when attempt is made intentionally to invite wrong answers, a finding consistent with Piaget's ideas. Then he added:

> Through questionnaire technique, it is not possible to find exactly the reasons for the errors incident-ally committed on the problems, From indirect evidence, the reasons appeared to be the following:

poor mathematical v cabulary, failure to add, subtract, multiply and divide exactly, underdevelopment of the schema of proportion in particular, failure to generalise their thinking to algebraic symbols and,possibly, the use of more mechanical ways of thinking than intellegent understanding of the problem(121).

(18) Robert S.Tannenbaum used an entirely different approach, while developing the Test of Science Processes,namely, Observing, Comparing, Classifying, Quantifying, Experimenting, Inferring and Predicting. This study is unique in the sense that very little is known about the emergency of these processes at various age levels. When the test is looked at depth, it does not use problems involving a continuous chain of reasoning, all of the test items being, of course,process based and of the multiple choice variety, Moreover, the various processes in relation to known tests useful for interpretation of the same processes lack factorial evidence. Still, the author at least appears to have achieved the main purpose of the instrument: 'Measurement of Progress towards Behavioural Objectives'(121). But it is not known in what order and at what ages the various processes are mastered by pupils. In contrast to this study, R.M.Misra, using Piaget type tasks, investigated the role of hypotheses formation in solving problems inhering a continuous chain of reasoning among X grade science students. The main findings of his

study indicated:

a) A given problem is solved over a wide I.Q.range. A low I.Q. pupil may solve the problem successfully whereas a high I.Q. pupil may fail on it.

b) There is no significant difference between the top and the bottom group in regard to the average number of hypotheses set up. It is of interest to point out that the bottom group identified two other variables, namely, the tension and elasticity of the thread which were not suggested by any member of the top groups

c) When the mathematical structure of the problems used was analysed through factor analysis, the following five factors appeared: General Adjustment, Seeing the Problem as a whole; Formulating Hypotheses; Interest in Generating Difficult Problems(whose answers they do not know, that is, posing such questions on cow and cycle); and newness of the problem.

d) There is a general tendency among adolescent pupils to set up all sorts of hypotheses but, at the same time, they have aw-fully failed to test the various hypotheses. The main findings here is that their minds have not become truly experimental(123).

(19) This finding receives support from a paper on Promoting Intellectual Development Through Science Teaching by John W.Renner & Anton E.Lawson. Using two Piaget tasks

on the conservation of Volume and the Exclusion of Irrelevant Variables, they found that ' out of the population from which physics students are drawn, not many are formal operational' as shown in the table below:

Table 2.1

Showing the number of adolescent pupils grade-wise and sex-wise possessing ability to conserve volume as well as to exclude variables.

S.No.	Grade	Population	Conservation of volume.	Exclusion
1.	XI	Male = 45	26	23
	N=99	Female = 54	19	14
	XII	Male = 50	34	20
	N=97	Female = 47	8	16

When the same two problems were administered on 185 college freshmen, only 133 and 77 could show successfully the conservation of volume and exclusion of variables behaviours. This shows that even the majority of College freshmen have not moved deeply into the formal operational stage of thought (124). In another informal study on 11 college freshmen, Sharon Bastian & others, using four Piaget adapted tasks (these were the pendulum, the inclined plane, angle of incidence and reflection and volume) found that ' none of the eleven subjects performed on the formal operational level'. In other words, this meant that they found logical experimentation difficult. Secondly, there did not exist any significant

correlation between scores on Piaget tasks and the other outside variables like standard achievement test scores; current grade point average scores; predicted grade average scores; and high school percentiles. Thirdly, scores on Piaget type tasks were least influenced by sex, age, and major area of study. Why? The reason could be that approach to the courses which they had studied was least inquiry centred(125). John W.Renner & Anton E.Lawson remark (in the context of Science Curriculum Improvement Study Project under the guidance of Professor Robert Karplus):

> Our research has shown us that the level of thought of junior high school students and college freshmen can be changed by providing them inquiry centred experiences in science. We believe that the principal reason our research has shown an increase in the thought levels of students is because we accepted that most of them participating experiments were concrete operational. That squarely put upon us the responsibility for providing concrete experiences with the objects and ideas of the discipline. These students were involved in actually creating some knowledge of their very own. We know that it was the first time some of them had been given that opportunity. We believe that actual involvement with the materials and ideas of science and being allowed to find out something for themselves accounts for movement toward and into

formal thought which we found.

..... This teacher is not a teller, he is a director of learning. Traditional teaching methods embrace the notions that (a) teaching of telling, (b)memorization is learning, and (c) being able to repeat something on an examination is evidence of understanding...these points are the antithesis of inquiry... The development of formal thought must become the focus of attention of every teacher in the country...the central role of the school must be to teach children with form not objects- in other words, to move students into the stage of formal operational thought. Science has the structure to enhance greatly the achievement of this objective. We must not blow our chances to make a maximum contribution to education in general and education in science in particular! Let us establish an enviornment in our classrooms that encourages and promotes formal thought(124).

It is a grand hypothesis which needs to be tested under as many diverse conditions as feasible. In another interesting study, using the well known pendulum on a very wide age group 10-50 years, Kohlberg and Gilligan reported that a ' large percentage of the adolescent population is not

formal operational'. The results obtained by them were:

Table 2.2
Showing the percentage of adolescent population able to reason formally in various age groups.

S.No.	age group in years	Percentage
1.	10-15	45
2.	16-20	53
3.	21-30	65
4.	45-50	57

It appears that adolescents are not making full use of their ' talents and tools', this percentage being quite high even within the age group 16-20 years(126).

(20) W.F.Archenhold investigated the concept of 'potential, electrostatic and gravitational, including related concepts such as work done and energy' as held by a group of sixth formers in the age group 16-19 years in the north of England. Twenty five tasks were designed which tested their understanding through a series of theoretical and practical situations in the above mentioned areas in physics. These pupils not only exhibited limited understanding but also misunderstandings which, in a way, reflected their difficulties in grasping these concepts at advanced level. When results were factor analysed, using Hotelling method, a strong intellectual/ educational component appeared while 'Varimax rotation isolated two factors containing tasks associated with potential and work done respectively(127).

(21) Robert Eugene Norton, attempted to assess Children's Ability to Solve Problems in Science developmentally using a test(T.S.P. Tab Science Puzzler) on adolescent pupils studying in grades four to six. He investigated relationships between problem solving ability on one hand and other variables like previous science knowledge; I.Q., age and reading ability; and selected cognitive factors of intelligence. Main findings of this study indicated:

(i) Problem solving performance is related to previous knowledge, a finding consistent with Wellock on a higher age group.

(ii) Although the selected cognitive factors are not related to total problem solving performance, flexibility and speed of closure and reasoning are related to the problem- solving subtasks, problem orientation, problem solution and data analysis.

(iii) Based on the correlation between problem-solving performance and I.Q., age and reading ability, no evidence was found to support a relationship between problem-solving, I.Q. and reading ability.

(iv) Chronological age appears to be related to problem solving in certain areas(128).

(22) It is possible to see the same problem in a different context by making use of objective tests in which reliance is placed on the initial answers which are then subjected to advanced statistical analysis. A lead in this direction has been given by STEP (Sequential Tests of Educational Progress) which needs mentioning for its objectives according to the publisher are to measure several skills: picking up the problem, sharp formulation of the problem hypothesizing, designing experiments, interpreting data (also conflicting), developing objective procedures, evaluating evidence critically, using symbols and written materials, and their interpretations. Consider the following problem:

> Situation. You are the engineer directing a new dam project on a certain river. You have team of scientists, i.e. biologists, chemists, geologists, meterologists, and physicists in assistance on the project. You have to locate the dam in the best position and arrange for the hydro-electric power and the irrigation of the surrounding district which is a semi-arid zone region. The water level is to say 300 feet above the river.

Subject matter area	- Geology
Ability	- To identify and define a scientific problem.

On the following, the most important problem requiring your attention would be:

(a) To find the point where the river banks come closest together.

(b) To find the point where the largest and deepest lake could be built up behind the dam.

(c) To investigate the characteristics and structure of the rocks underneath the river bed & along the banks.

(d) To determine the least amount of inhabited land that would be flooded(129).

Like line spectrum, children's thinking is tested ability wise but, at the same time, a specific suggestion of value has been made by Gupta in another study when he says:

> It may be possible to conduct researches on the mutual relationship of purely factual and tests requiring the understanding and application, with both types based on identical subject matter. A high correlation may mean that the tests of the latter variety should be preferred because of their desirable influence on teaching and learning habits, whereas a low correlation may mean the desirability of both the types with suitable weightings. However caution may have to be exercised in generalizing any relationship discovered in small experiments because

there are other variables also, for instance, differences in the teaching practices noticeable in different schools, and so on, which may effect the result to an appreciable extent(130).

Inquiry Training

It is necessary to refer to Inquiry Approach in science teaching in passing. J.J. Schwab has aptly remarked that the 'Problem now facing teacher of science is no reblooming of a perennial' but it is a ' mutant- new in so great a degree as to amount to a difference in kind'. He distinguished two aspects of scientific inquiries,namely, stable and fluid, the latter aspect relating to science in the ' making ' in which even the very principles of inquiry remain suspect(131). It is not only that it is the teacher who talks too much in the classroom but also it is again he who also asks questions about 97 per cent of the time. As children move up in the respective higher grades, this very teacher behaviour results in their becoming less empirical. In other words, they, instead of trusting their own concepts, begin to accept external authority in an unreflective manner(132). The Illinois Studies in Inquiry Training Project under the guidance of J.Richard Suchman began in 1957 and identified over the years the following ideal conditions for developing inquiry skills among

lr ntory school children: focus for attention; freedom (external and internal); and responsive environment in the words of O.K.Moore. Elementary school children are exposed to discrepant events which by their very nature compel them to analyse, for example, the erratic behaviour of a bimetal blade on heating and cooling. Films were made in quite a few school subjects like physics, biology and economics. They were forced through these episodes containing discrepant events with the aid of yes-no questions to seek their own explanations. Learn is thus enabled to direct and control his own learning. Suchma regarded inquiry as a ' Process of Discovery' comprising the following four phases: searching, data processing,discovery and verification with a view to investigate several causal relations. Using other outside variables including known tests and scores on inquiry and subjecting the data to factor analysis, the following three factors relevant to success in inquiry appeared:

(a) Impulsivity factor: the capacity to leave beyond data to generate abstractions. Zero in on.

(b) Cognitive Control: the ability to handle and manipulat data.

(c) Autonomy. The second is related to this because for if you never leave the data, you will never construct the data(132).

Inquiry into science teaching is a never ending process until the dead end arrives; and it has to be shown so. Ben Strasser has shifted the focus of inquiry on teachers rather than pupil behaviour, another interesting research question (132). Alphoretta Fish, on the other hand, shifts the same on alternative methods of inquiry, thus, giving three different meanings to the term Inquiry(132). Le Von Blazer makes out a strong case for developing inquiry skills as one of the most important outcomes of instruction in biology. He thus supports J.J.Schwab, Anderson and Robert Gagne' for it provides opportunities for scientific thinking. Again he quotes Gagne' who sums up various writers on inquiry, " I judge them to mean, that it is a set of activities characterized by a problem solving approach of which each newly encountered phenomenon becomes a challenge for thinking" (132). John H.Woodburn in Discover and Describe stresses the investigative approach to science teaching by presenting puzzling events or situations to children which intentionally' offend ' their senses. The observable cognitive conflicts provide a ' realistic visible format easily communicable between student and teacher' (133). Using programmed materials, Robert M.Olton and his co-workers, tried to assess the extent to which' specified productive thinking abilities, can be taught to elementary school children'. Being a comprehensive project, they raised the following additional questions :-

(a) Are some productive thinking skills more

amenable to instruction than others?

(b) Can productive thinking skills be learned by children of all I.Q. levels ?.

(c) How are productive thinking skills affected by a classroom environment judged to facilitate creative expression?

The main findings indicated that use of programmed materials" led to an increase in the level of productive thinking in this large and representative group of fifth grade students" (N=704) at three levels of I.Q. included in the study. However, the extent of generality of training was limited, the main reason being the kind of problems rather than the kind of performance measures employed. Secondly, both the experimental and control groups demonstrated on demand simple cognitive skills, training being inessential. The latter, however, hardly use them in their day to day work. The complex tasks, on the other hand, necessitate the use of advanced skills which were not yet available but could be developed in training sessions. Specifically speaking, contrary to the findings of Covington and Crutchfield(1965), there does occur a gradual increase quantitatively as practice trials training sessions increase. The role of facilitating environment was also found ineffective at the end of the project because the treatment was particularly effective with students in non-facilitating environments. The

girls were found superior to boys on all types of problems. As research problems, they have suggested to re-examine the same problems with which they started by determining the presence or absence of cognitive skills at various age levels, finding skills amenable to practice in contrast to training or instruction and the quality as well as quantity of training sessions(134).

In another restricted study on' Hypotheses Formation can be Taught," Mary Ellen Quinn, using twelve film loops of 12 minutes duration each, the schumanian way, showed that both urban and suburban children produced statistically significant improvement in ability to hypothesize'. It is of interest to mention that the training comprised better recognition of the problem, distinction between empirical and non empirical based statement, observation of properties or behavi-ours of objects in the lo films, drawing of inferences, determination of empirical relations between observed and inferred variables and experiments for testing hypotheses(135). She thus confirmed the earlier finding of Richard C. Anderson that training sessions did help even the first graders on transfer tasks. These first graders constituting the one top thirds on the California Test of Mental Maturity, however, failed to show superior performance on the pendulum and the chemical problems. Sex also did not play any significant role (136). Through variable teaching techniques, it is possible

to teach facts and concepts of astronomy to two groups college freshmen with' little effect on the students' understanding about science as measured by TOUS(137). Maureen A.Dietz and Kenneth D.George attempted to develop a reliable and valid tool for measuring the problem solving skills of children in grades one, two and three. These were: recognition, understanding of scientific principles necessary for'the solution of the problem, collection of data and handling, if- then statements(138). But the study fails to answer the basic question. For example, consider the following two studies as well.

David P.Butts and Howard L.Jones in an-other earlier study on' Inquiry Training and Problem Solving Skill in Elementary School Children' developed an inquiry training programme as suggested by Suchman whose outcomes could be measured by an instrument especially developed for this purpose, namely, Tab Inventory of Science Processes(TISP). A child inquiring into a problem shows the following behaviours; searching, processing data, discovering, verifying and applying concepts to new situations. They intended to investigate the effects of training sessions on the problem solving behaviours of children as well as the role of outside variables like intelligence, sex, chronological age and factual knowledge in changed problem solving behaviour consequent of the instruction. They also examined

whether inquiry training led to meaningful concept development, using sixth grade students(N=106) and inquiry sessions extending over three weeks daily, the main finding indicated that when exposed to guidance, there resulted enhanced problem solving behaviour. Secondly, changes in problem solving behaviour were insignificantly related with tested intelligence, chronological age, sex and factual scientific knowledge when compared with the control group, the above mentioned variables did not appear to play significant role while drawing benefit from inquiry training. Then they remarked aptly:

> Much discussion has been given to the relationship between meaningful concept development and inquiry. The results of this study do not support the assertion that meaningful concept development results from inquiry training. Children who were successful problem solvers on TISP were not able to apply the concept to a different situation. Why ? Is the application of a concept to a different situation an adequate criterion for meaningful concept development? Were the situations' too different' for the child to see the relationship(139)?

At the same time it is also necessary to determine why a group of children fails to show changes in problem

solving behaviour and relate them to their personality make-up. Robert E.Yager and John W. Wick do support that certain phases of pupil outcomes are definitely the result of varied intentional teaching strategies but, at the same time, they provide the following disturbing conclusion that there is no significant difference in the mastery of the major concepts and facts of biology (as measured by the Neslson Biology Test) by the students among the three emphases used by the teachers of the study(140). In his writings, J.S.Bruner has talked of discovery, structure, early readiness and intuitive thinking. He gives a clarion call for discovering imaginative modes of inquiry among children so that each child is ' capable of going beyond the cultural ways of his social world, able to innovate, in however, modest a way, so that he can create an interior culture of his own'. 'For whatever the art', he says, ' the science, the literature, the history, and geography of a culture, each man must be his own artist, his own scientist, his own historian, his own navigator'(141). He is nearer to Plato as well as to Piaget for his learning by discovery is tied to their theoretical melange-' an environmentally dynamic version of contemporary developmental theory in conjunction with a twentieth century form of classical relationalism' (Lee S.Shulman). B.F.Skinner, Robert M.Gagne' and David Ausubel take the opposite view (141). Each of them takes a restricted view of learning, at least, at the starting point. A bit later, it becomes

a case of learning hierarchies: guided learning, and reception learning. While reviewing researches on discovery, Ausubel appears to state the following conclusion, a sort of educational disaster:

(a) That most of the articles most commonly cited in the literature as reporting results supportive of discovery techniques actually report no research findings whatsoever, but consist mainly of theoretical discussion, assertion and conjecture; of descriptions, of existing programmes utilizing discovery methods, and of enthusiastic but wholly subjective testimonials regarding the efficiency of discovery approaches.

(b) That most of the reasonable well-controlled studies report negative findings.

(c) That most studies reporting positive findings fail to control other significant variables or employ question able technique of statistical analysis. Thus actual examination of the research literature allegedly supportive of learning by discovery reveals that valid evidence of this nature is virtually non-existent. It appears that various enthusiasts of the discovery have been supporting each other research by taking in each other's laundry, so to speak,

that is, by citing each other's opinions and assertions as evidence and by generalizing wildly from equivocal and even negative findings(142).

Instead , to' provide ideational scaffolding',he gives the concept of Organizers which in their different forms try to close the gap between what the pupil knows and what he is expected to know before he can master the task at hand. He thus restores the threatened status of the teacher in his scheme of learning(142). Regarding accelerated learning, it is of interest to refer to the founding of Project: Head Start in U.S.A. in 1965. Engelmann and Bereiter have reported startling successes with their slum children, for example, not only,they can speak complete sentences, solve simple arithmetical problems, read words and learning their spelling but also have registered increase in their intelligence. There are negative reports as well, for example, they are most of the time' tense, frightened and respond automatically'(143). Barbara Biber,here, remarks that the ' method through its effects on attitude and therefore on motivation, becomes a secondary determinant of how far the original learning goal will be realized' (143). Here, neither scrambled textbooks nor the high sounding educational technology like the Computer Assisted Instruction will be of use if used indiscriminately, for it may well kill curiosity, interest and individuality by ' making all men alike and not necessarily alike in nice ways'(143). Piaget is here conservative when he says:

We know that it takes nine to twelve months before babies develop the notion that an object is still there even when a screen is placed in front of it. Now kittens go through the same stages as children, all the same stages, but they do it in three months so they are six months a-head of babies. Is this an advantage or is not it? We can certainly see our answer in one sense. The kitten is not going to go much further. The child has taken longer, but he is capable of going further, so it seems to be that the nine months probably were not for nothing.

It is probably possible to accelerate, but, maximal acceleration is not desirable. There seems to be an optimal time. What this optimal time is will surely depend upon each individual and on the subject matter. We still need a great deal of research to know what the optimal time would be(144)

It is a million dollar American question, empirical experimental in nature whose research answer will illuminate Piaget's invariant clockwork of the order over the years. According to Lee S. Shulman, we have not yet exhausted fully the various creative approaches leading to the solution of this problem of cognitive acceleration for we have at the moment 'access only to opinions and personal prejudicies'(141).

It is of passing interest to refer to the study on the development of algebraic concepts among pupils studying at the junior secondary stage in relation to outside variables like levels of intelligence, sex and grades by J.N.Joshi. He standardized an algebraic concept test in Hindi containing seven categories like generalized numbers, directed number, equations, parentheses, substitutions, exponents and graphs. His findings indicated that all the broad categories except the one on directed number developed from grade to grade. Secondly superior intelligence is necessary for the formation of algebraic concepts. Thirdly, boys have a 'tendency to excel girls in the understanding of algebraic concepts(145). In another equally interesting and novel study on Analysing test Responses with symbolic Logic, Gary R.Smith attempted to assess pupils' success in understanding certain concepts of light with the help of multiple choice test items. He made detailed as well as distinct element-analysis of question and answer for testing pupil understanding on both. A fortran programme was written which would indicate the network of correct and incorrect responses. Twenty deductions were derived from five propositions. This approach has limited utility for difficulties lay in arbitrary allotment of symbols, the very designation of the class, confusion between symbolic proposition and unique statement of item proposition and omnibus nature of the test(146).

3. Overall Evaluation and
The Scope of the Problem

After having surveyed the field of human thinking with special reference to reasoning, concept formation, problem solving and school science education, it is now necessary to have another close look at the survey with a view to pose the present problem and state its scope. Science in its forward march does not pose impossible problems. Psychology, in our times, also claims scientific status. Therefore, like science, it must also pose its problems in their solvable forms for generating new objective knowledge. It is easier said than done for several variables intervene and, make in turn, the investigation of psychological problem becomes very difficult as is shown by the survey. Still, the findings of the various general as well as specific studies undertakes in different contexts not only within a given paradigm but also across the various ones, when consolidated, indicate:

(a) Thinking is multi-faceted in character. Its investigation, particularly speaking, of higher cognitive processes is considered to be a complex task. In our times, it ought to be the main job of the second psychological revolution to tackle successfully the various attendant problems, however, small they may be(147). The present survey reports several such studies against several theoretical standpoints undertake

with this objective in mind which attempt to make this complex problem a bit more transluscent.

(b) To facilitate this, thinking need no longer remain a 'ghost' like activity. As a first step, it is essential to short-circuit several definitional complexities if any worthwhile progress is to be made at all. To illustrate, even a restricted field like problem solving has been investigated in the past under different heads. To surmount this problem, thinking in this study is regarded as a skill. Secondly, problem is defined as a task oriented situation having a clear cut solution with a view to facilitate the study of thinking processes.

(c) The survey clearly shows that it is theoretically possible to investigate any cognitive problem relating to any one of the following paradigms: S-R theories, Gagne's viewpoint, phenomenological theory, factor analytic approach, information processing, accelerated learning, Gestalt psychology and the Geneva school. It is not implied at all that one frame of reference is superior to another for, after all, it is finally a matter of individual choice in which attempt is made to catch the fish rather than seek specialization in the art of angling. This choice, again, is dependent upon the aims and objectives of investigation, the nature of the very investigation, extent of controlled experimentation actually available and the physical facilities for carrying it out.

The present study draws its inspiration from Gestalt psychology, Geneva School and the factor analytic approach. Secondly, it goes a bit ahead, for in comparison to other workers in the field, it uses several problems having scientific flavour but, at the same time, each inhering a continuous chain of reasoning. Thirdly, the varied problem solving processes evoked during proble-m solving, largely speaking, possess clear cut solutions which, in turn, can be reclassifed or regrouped with definite advance hypotheses in mind. In summary, a promising line of inquiry of this nature is just perceptible in the area of thinking or problem solving. The present problem not yet tackled, is one among many, available in this area.

(d) To pinpoint, the present study investigates certain aspects of thinking through the medium of problem solving among science students of adolescent age who were matched on two variables, namely, intelligence as well as socio-economics status. When seen by exclusion, the following problems, of course, important receive little attention in this study:

(i) Problems relating to creativity variables.
(ii) Role of situational variables
(iii) Concept: formation as well as attainment.
(iv) Predictive studies.
(v) Acceleration studies.

(e) In continuation, these problems can't be ignored for a long time. The survey clearly makes out a case for investigating some of these general problems urgently. A few examples of such problems having some sort of association with our study are cited.

below:-

(i) At what age do children begin to manifest formal reasoning? What factors favour its early emergence? At what age do the adolescent pupils develop firm urge for experimental verification?

(ii) What variables determine vast individual differences in thinking? It is suspected that these variables are: intelligence, individual abilities, personality traits, task characteristics and varied instructional methodology.

(iii) Do sex differences exist in thinking at various age levels? If so, why? Are they genetically determined?

(iv) What exactly is the relationship between concept formation and its application?

(v) Why children fail to verbalize their concepts when they had, in fact, understood them? Is a correct test response given over a wide I.Q. range not only within individual grades but also across the various grades? Up to what extent can a given concept be down graded? Finally, do laws for down-grading concepts exist?

(vi) What is the role of hints and cues in the teaching learning process? Under what conditions do they really become effective?

(vii) Does thinking develop in stages? Do all the children go through the same stages? Particularly speaking, do the thinking processes develop unidimensionally? How to test this grand hypothesis?

(viii) What kinds of thinking processes does the training under experimental conditions generate? Are they really chips of the same block or different blocks?

(ix) Under what specific conditions does learning take place maximally? Alternatively, under what conditions do the acquired concepts really become disposable or acquire' measures of generality'?

(x) Lastly, what is the relationship between intelligence and the varied Piagetian concepts?

It is a long shopping list in which problems overlap. The present study, while investigating thinking, takes into account intelligence, grades, adjustment and the immediate test reactions to the problems on presentation.

4.Concluding Statement

A major shift in thinking is apparent. It converges on specificity in the formulation and reformulation of problems more and more productively in the phraseology of Gestalt psychology. This point of view or approach to the problem facilities studying experimentally the varied processes of

thinking which lead to the development of understanding, generalization, discrimination, concept development and attainment. This initial spin off gain is not easily seized because, as already mentioned, it is easier said than done. The main reason appears to be that the researchers, on the one hand, and the practitioners, on the other hand, both placed in different settings, do not necessarily ask the same question. These split questions are bound to appear in the business of any science, psychology being no exception. It is then not a case of despair, for the solution to the problem then lies in considering the two problems separately as is frequently done in the case of certain anomalies in science. However, when answers to the split questions are mastered successfully, one after another, the whole field over the years becomes quite explosive. The area of creativity is a case in point. Thus are answered the most fundamental questions in science. The basic problem here is to relate the most powerful concepts of science to the intellectual development of children. The psychological structure of any school subject depends upon the answer to this basic problem. The present study is an attempt in that direction.

Lastly, whereas the whole area is full of problems, the latter now lie more in the zoo rather than in the jungle. Thanks to the recent research efforts of Ausubel, Bartlett Bruner, Flavell, Gagne, Guilford, Hans Furth, Humphrey, Inhelder, Lovell, Lunzer, Peel, Piaget, Schwab, Skinner,

Suchman, Vernon and Wallace, a few among many noted workers in the field, it has become possible to pose specific problems in this area which was, however, not the case over twenty five years ago. This survey succinctly tells that psychological concepts do not, develop in a vacuum for children live in environments; physical, mentel and social. They learn formally, informally; and equally possess personal knowledge about men and matters. How is then their thinking generalized at various age levels in apparently different psychological constructs? is a very basic question yet in search of satisfactory answer. Like the proverbial five blind men, the whole elephant has to reconstructed bit by bit again and again. Our miserable failure on this front has deprived us of any worth-while psychological structure for any one of the school subjects, at least, in this country(148). Several specific studies are needed whose answers over the years are bound to illumine the very basic of the likely emerging productive frame of reference. The solutions to these problems may not be very far off, yet they also, at the same time, equally lie currently beyond the nose. To conclude on an optimistic note, efforts in this enterprise are going to be more successful than in the past. At the same time, it is also equally stressed that the whole field of human thinking which is as vast as humanity itself throws up quite a few fundamental problems which are yet to be investigated even partially before we can fully understand the basic assumptions underlying human thought processes. And the latter, in turn, are also open to continual scrutiny.

BIBLIOGRAPHY.

1. Quoted from Directed Thinking by George Humphrey, Dodd, Mead & Company, New York, 1948. Page 1.

2. Rapport David; Organization and Pathology of Thought, Selected Sources, Columbia University Press, New York.

3. Reese Hayne W., and Lipsitt Lewis P.; Experimental Child Psychology, Academic Press, New York and London, 1970. PP. 479-80.

4.(i) Russell D.H.; Concepts, In Encyclopedia of Educational Research Edited by Chester W. Harris, The MacMillan Company, New York, 1960.

(ii) Grewal J.S.: The status of Thinking in Historical Perspective, a Draft Paper, Regional College of Education, Bhopal, December, 1973.

(iii) Berlyne D.E.; Structure & Direction in Thinking, Wiley, New York, 1965

(iv) Hilgard E.R.: Theories of Learning, Methuen & Co. Ltd., London, 1958.

5,6,7(i) Quoted from the Differentiation of Reasoning Abilities at Adolescence by A.S. Butt, Ph.D., Thesis, Institute of Education, London, 1957.

(ii) Duncan Carl P.(Edited); Thinking: Current Experimental Studies, Lippincott, Philadelphia, 1967.

(iii) Humphrey George; Thinking: An Introduction to its Experimental Psychology, Science Editions, New York, 1963.

(iv) Manis Melvin; Cognitive Processes, Wadsworth, California, 1966.

(v) Russell D.H., Children's Thinking, Ginn & Co., Bostan & London, etc., 1958.

(vi) Wallach M.A.; Research on Children's Thinking, In Child Development, NSSE, 1953, PP.236-371.

8. See Directed Thinking by George Humphrey, Ibid.

9,10 (i) Bartlett Frederic; Thinking, an Experimental Study, George Allen & Unwin Ltd., London, 1958.

(ii) Vinacke William Edgar; Foundations of Psychology, American Book, New York, 1958.

(iii) Wertheimer Max; Productive Thinking, Enlarged Editions Edited by Michael Wertheimer, Harper, New York, 1959.

(iv) Hilgard E.R.; Theories of Learning, Ibid.

11. Peel E.A.; The Pupil's Thinking, Old Bourne, London, 1960.

12. Russell D.H.; Children's Thinking, Ibid.

13. (a) Quoted from Encyclopedia of Educational Research, Recent Editions Ibid.

(b) Hearnshaw L.S.; Recent Studies in the Psychology of Thinking, In Readings in General Psychology Edited by Paul Halmos & Alan Ilife, Routledge & Kegan Paul, London, 1959, PP. 46-65.

14. Quoted from the Psychology of Thinking by Neil Belton, Methuen & Co., Ltd., London, 1972. PP. 7-8. See also Part One on the Development of Logical Thinking.

15. (a) Dewey J.; The Quest for Certainty, Allen and Unwin, London, 1930. Page 110.

(b) Dewey J.: How We Think, D.C.Heath & Co., London, 1910.

16 (i) Benjamin Burrack; Methodological Aspects of Problem Solving, Progressive Education, Volume 30, 1953. PP. 134-38.

(ii) Abstracted from the following sources: Bingham Alma; Improving Children's Facility in Problem Solving, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1958.

(iii) Bloom & Broader; Problem Solving Processes of College Students, University of Chicago Press, 1950.

(iv) Gray Stanley J.; On Problem Solving, In Educational Psychology Edited by C.K.Skinner, Staples Press Ltd., London, 1956.PP.374-396.

(v) Mills Lester K., & Dean Peter M.; Problem Solving Methods in Science Teaching,Manpower Monographs, Bureau of Publications,Teachers College, Columbia University, New York,1959.

(vi) Polya A.G.; How to solve It, a new Aspect of Mathematical Method, Princeton University Press, Princeton,1958.

(vii) Russell D.H.; Children's Thinking, Ibid.

(viii) Vaidya N.; Problem Solving in Science,IBID. PP. 54-57.

(ix) Developed Jointly by L.K. Oad & N. Vaidya on the basis of the latter's study: A study of Some aspects of Thinking Among Science Students of Adolescent Pupils, Ph.D.Thesis, University of Rajasthan, Jaipur,1974.

(x) Vinacke W.E., The Psychology of Thinking, McGraw Hill Book Company, Inc., New York, 1952. See the Chapter on Problem Solving.

17. (i) Vaidya N.; A study of Problem Solving in Science Among Certain Groups of Adolescent Pupils, M.A.(Education) Thesis, Institute of Education, London, 1964.

(ii) Vaidya N.; Jean Piaget and Children, Deptt.of Teacher Education, NCERT, New Delhi,1977.

18. Quoted from Human Learning in the School Edited by John P.Dececco, Holt Rinehart & Winston, Inc., New York, 1963. See the fourth Chapter on Human Problem Solving.

19. Quoted from Readings in Psychology Edited by John Cohen, George Allen & Unwin Ltd., London 1964.

20. (i) Duncan Carl P., Recent Research on Human Problem Solving, In Human Learning in the School Edited by John P.Dececco,Ibid.

(ii) Vaidya N.; Problem Solving in Science, S.Chand & Co., Ram Nagar, New Delhi, 1968. See the fourth chapter on Survey of Human Problem Solving PP.66-115.

(iii) John D.M.; A Modern Account of Problem Solving, Psychological Bulletin, volume 41;No.4, April,1944.

21. Dietz Maureen A., & George Kenneth D.; A test to Measure Problem Solving Skills in Science of Children in Grades One, Two and Three, Journal of Research in Science Teaching, volume 7, Issue 4, 1970. PP.341-351.

22. Jean Piaget & Inhelder B.; The Growth of Logical Thinking from Childhood to Adolescence.Basic Books Inc., Printed in the United States of America, June 1961. PP.334-35.

23. See the Highly Illuminating Papers on Psychology by Jean Piaget in Main Trends of Research in the Social & Human Sciences, Part I, Mounton/ U.N.E.S.C.O.; Paris, 1970. PP.1-57,& 225-282.

24. (i) Lovell Kenneth; Developmental Processes in Thought, In Understanding the Young Child & His Curriculum(Selected Readings) Edited by Belen Collantes, Mills; The Macmillan Company, New York & Collier- MacMillan Company Ltd., London, 1972. PP.100-116. For better appreciation of the problem, See the following publications also:

(ii) Almy M.; Young Children's Thinking,Teachers College Press, Columbia University,New York, 1966.

(iii) Berlyne D.E.; Structure & Direction in Thinking, Wiley, London, 1965.

(iv) Bruner J.S., & Others; Studies in Cognitive Growth, A Collaboration at the Centre for Cognitive Studies, John Wiley & Sons, Incl, New York, March, 1957.

25. Wallach Michael A.; Research on Children's Thinking, In Child Psychology Edited by Harold W.Stevenson with the Assistance of Jerone Kegan and charles Spiker, the Sixty-second Year Book of the National Society for the Study of Education,Distributed by the University of Chicago Press, Chicago, Illinois,1963. PP.236-271.

26. (i) Lunzer E.A.; The Piaget Controversy,In the Times Educational Supplement,Photo Report, Feb.,11,1962. PP.18-71.

(ii) Lunzer E.A.; On Children's Thinking,National Foundation for Educational Research in England & Wales, Slough, 1971.

27. Finlay G.C.; Physical Science Study Committee: A Status Report, Science Teacher XXXVI,5748, 1959 Page 574.

28. Ausubel David P.; Some Psychological Considerations in the Objectives & Design of an Elementary School Science Programme,Science Education, April,1963.PP.278-284.

29. (i) SCIS Elementary Science Source Book, Science Curriculum Improvement Study, University of California, Berkeley,California, Trial Edition, June,1968. PP.12-58.

(ii) Karplus Robert & Thier Herbort D.; A New Look on Elementary School Science, Rand McNally, Chicago, 1967. See the Seventh and Eighth Chapters.

30. Bruner J.S.; The Process of Education, Harvard University Press,Cambridge, Mass; 1960.

31. (i) Suchman J.R.; Inquiry Training: Building Skills for Autonomous Discovery, College of Education, University of Illinois,Urbana, Illinois,June,1961.

(ii) Hibbs A.R.; Science for Elementary Students, Teacher's College Record,LXIII,1961.PP.136-42.

32. (i) Vaidya N.; Key Issues in Science Education, Deptt. of Teacher Education, NCERT, New Delhi, Feb. 1977.

(ii) Chatterjee R.P.; The Open School, In the Hindustan Times, New Delhi, Feb., 10, 1974.

33. Cronbach Lee J.; Psychological Issues Pertinent to Recent American Curricular Reforms, Proceedings of the XIV International Congress of Applied Psychology, Volume 3(Child Development), Compenhagen, 1961. PP. 139-53.

34. Bruner J.S.; Learning & Thinking, Harvard Educational Review, 29, Summer 1959. PP.184-192.

35. (i) Shulman Lee S.; & Keislar Evan R.; Learning by Discovery, a Critical Appraisal, Rand McNally & Company, Chicago, 1966. PP.181-199.

(ii) Vaidya N.; The Growth of Cognitive Processes During Adolescence, Department of Teacher Education, NCERT, New Delhi, 1975.

36. Quoted from the Regulation of Behaviour by E.A. Lunzer, Staples Press, London, 1969. Page 362.

37. (i) Vaidya N.; Some Aspects of Piaget's Work and Science Teaching, S.Chand & Co., New Delhi, 1971.

(ii) Vaidya N.; Problem Solving in Science, Ibid.

38. Lunzer E.A.; The Regulation of Behaviour, Ibid. See the first Chapter on Classical Theories of Learning.

39. (a) Vaidya N.; The Impact Science Teaching, Ibid.

(b) Hilgard E.R., and Bower G.H.; Theories of Learning, Appleton- Century Crofts, New York, 1966.

40. (i) Van De Geer J.P.; A Psychological Study of Problem Solving. Ibid.

(ii) Peel E.A., The Pupil's Thinking, Ibid.

(iii) Vaidya N., Some Aspects of Piaget's Work & Science Teaching, Ibid. PP.58-65.

41. (i) Hilgard E.R.; Theories of Learning, Ibid.

(ii) Marx Melvin H., & Hillix William A.; Systems & Theories in Psychology,McGraw Hill Book Companym New york etc., 1973.PP.205-239.

(iii) Bose A.N.; Sood J.K.; & Vaidya N.(Edited); Strategies in Science Education,Regional College of Education, Ajmer, 1970.See the Chapter on the Psychological Basis of Science by N.Vaidya.

42. Wertheimer Marx; Productive Thinking, Harper New York,1959.

43. (i) Koffka Karl; Principles of Gestalt Psychology Kegan Paul, Trench, Trubner & Co., Ltd., London etc.,1936.

(ii) Vernon P.E.; Review of Koffka's Principles of Gestalt Psychology,Character & Pers.,4, 1935-36 PP.92-94.

44. Duncker Karl; On Problem Solving,Psychological Monograph, Volume 58, No.5, A.P.A.,1945.

45. Holt John, How Children Fail, Pitman Publishing Corporation, New York, October,1965.

46. Quoted in A Psychological Study of Problem Solving by Van De Geer, Ibid.

47. (i) Katona G.; Organization & Memorizing,Studies in the Psychology of Learning & Teaching, Columbia, New York,1940.

(ii) Peel E.A., Pupil's Thinking, Ibid.

48. Szekely L.; Acta Psychology,Volume 7, Mellan Publishing Company, Amsterdam,1950.PP.1-24; & 338-407.

49. Lunzer E.A., The Regulation of Behaviour, Ibid. Page 15.

50. Slesnick Irwin; The Effectiveness of a Unified Science in the High School Curriculum,Ph.D. Thesis, Ohio State University,Ohio,1962.

51. Athey Irene J., and Rubadean Duave O.; Educational Implications of Piaget's Theory, Ginn-Blaisdell, London etc., 1970 Page xiii & 253-54.

52. Pulsaki Mary Ann Spencer; Understanding Piaget, An Introduction to Children's Cognitive Development, Harper & Row, New York etc.1971.

53. Wallace J.G.; Concept Growth and The Education of the Child, N.F.E.R., London, 1965.

54. Flavell J.H.; The Developmental Psychology of Jean Piaget, D.Van Nostrand Co., Inc., Princeton & London etc., 1963.

55. Quoted from Lectures Given by Dr.A.R.Jonckheere on: An Exposition of the Thought of Jean Piaget, Delivered at the London Country Council Education Officers' Department, London, March-April,1961.

56,57. Abstracted from the following sources:

(i) Green Donald Rose & others(Edited); Measurement & Piaget, McGraw-Hill Book Company, New York, etc., 1971. See Chapter contributions by David Elkind, Read D.Tuddenham & Peter M.Buntler.

(ii) Piaget Jean; Logic and Psychology,Manchester University Press, Manchester, 1956.

(iii) Ripple Richard E., & Rockcastle Verene N.; Piaget Rediscovered, Selected Papers from a Report of the Conference on Cognitive Studies & Curriculum Development, In Journal of Research in Science Teaching, Volume 2, Issue 3,1964. See the following papers by Elanor Duckworth, Jean Piaget, and J.Richard Suchman.

(iv) Vaidya N., Some Aspects of Piaget's work & Science Teaching, Ibid. PP. 65-107.

58. Maier H.W.; Three Theories of Child Development the Contributions of E.H.Erikson, Jean Piaget & R.Seers & Their Applications, a Harper International Student Reprint, New York,etc.,1955.

59. (i) Inhelder Barbel; Some Aspects of Piaget's Genetic Approach to Cognitive, In Cognitive Development in Children, The University of Chicago Press, Chicago & London, 1970.PP.17-32.

(ii) Vaidya N., A Study of Some Aspects of Thinking Among Science Students of Adolescent Age, Ph.D.Thesis, University of Rajasthan, Jaipur, 1974.

60. Quoted in Concept Growth & The Education of the Child by I.G.Wallace, Ibid.

61. Bruner J.S.; A Psychologist's view point, British Journal of Psychology, 50,1959.

62. Piaget Jean & Inhelder Barbel; The Growth of Logical Thinking, Ibid. PP.245-271.

63. Gallagher James J.; Productive Thinking, In Review of Child Development Research Edited by Martin L.Hoffman & Lois W.Hoffman, Russell Sage Foundation, New York, 1964. PP. 349-81.

64. Quoted from the Basic Ideas of Jean Piaget by S.N.Tripathi, A Draft Paper, Regional College of Education, Bhopal, May 1974.Page7

65. Vaidya N.; A Study of Problem Solving in Science, M.A.Thesis, Institute of Education, London, 1964.

66. Flavell J.H., The Developmental Psychology of Jean Piaget, Ibid.

67. Hunt J. McV.; Intelligence and Experience, Ronald Press & Co., New York, 1961.

68. Piaget J.; Logic and Psychology, Manchester University Press, Manchester, 1953.

69. Piaget Jean & Inhelder Barbel; The Growth of Logical Thinking, Ibid.

70. Vaidya N.; Fostering Creativity in the Teaching & Learning of Science, Regional College of Education, Bhopal, Jan.1974. PP.3-5.

71. Piaget Jean & Barbel Inhelder; The Growth of Logical Thinking, Ibid.

72. Vaidya N., A Study of Problem Solving in Science Among Certain Groups of Adolescent Pupils, Ibid.

73. (i) Also see the Basic Ideas of Jean Piaget by S.N. Tripathi, Ibid, PP. 8-10.

(ii) Vaidya N., Some Aspects of Piaget's work and Science Teaching, Ibid. PP.65-108.

(iii) Inhelder B.; Experimental Reasoning of the Adolescent, Proceedings of the Thirteenth International Congress of Psychology, Stockholm, 1955.

74. Churchil E.M.; Counting and Measuring, Routledge & Kegan Paul, London, 1961.

75. Hyde D.M.; An Investigation of Piaget's Theories of the Development of the Concept of Number, Ph.D. Thesis, University of London, 1959.

76. Vygotsky L.S.; Thought & Language Edited and Translated by Haufmoun Eugenia & Vakar Gertmude, The M.I.T. & John Wiley & Sons, Inc., New York,

77. (i) Dienes Z.P.; Building up Mathematics, Hutchinson, London, 1960.

(ii) Dienes Z.P.; The Power of Mathematics, Hutchinson, London, 1963.

78. (i) Quoted from the American Review, New Delhi, July, 1967.

(ii) Also see the Book Review on Teaching Disadvantaged Children by Breiter & Englemann, In Harvard Education Review, Volume 33, November, 1967.

79. Wall W.D.; Education & Mental Health, Harrap, 1955.

80. Hyram G., An Experiment in Developing Critical Thinking in Children, Journal of Experimental Education, 26, 1957.

81. Quoted from the Concept Growth & The Education of the Child by J.G.Wallace, Ibid.

82. (i) Quoted from a Draft Paper on Revolution in Science Teaching in U.S.A.; All India Institute of Method Specialists, Regional College of Education, Ajmer, May-June, 1969.

(ii) Vaidya N.; The Impact Science Teaching, Ibid. See the first Chapter on Science Teaching Abroad.

83. Elkind D., Quantity Conceptions in Junior & Senior High School Students, Child Development, 32, 1961. PP. 551-60.

84. Flavell J.H., & Wohlwill J.F.; Formal & Functional Aspects of Cognitive Development, In Studies in Cognitive Development Edited by J.H.Flavell & D.Elkind, Oxford University, New York, 1969.

85. Wallace J.G.; Stages & Transition in Concept Development, An Experimental Study, N.F.E.R.; London, 1972. PP.209-11.

86. Wheller D.; Studies in the Development of Reasoning in School Children, British Journal of Statistical Psychology, Volume XI, Part II, 1958. PP.137-59.

87 Quoted from Journal of Research in Science Teaching, Volume 2, Issue 2, 1963.

88. Welch Wayne W.; Review of Research 1968-69 in Secondary Level Science, Journal of Research in Science Teaching, volume 9, Issue, 1972-PP. 97-122.

89 Desai D.M.& Roy Sunirmal; Curriculum, Methods & Test Books, In A Survey of Research in Education, Edited by M.B.Busch, Ibid.

90. (i) Wanchoo V.N., Science Education in the Fifth Five Year Plan. A Presidential Address delivered at the All India Science Teachers Conference, Dec.,27-30,1973, Madras,PP.1-18.

(ii) Vaidya N.; The Impact Science Teaching,Ibid.

91. (i) Quoted from the Development of Children's Concepts of Causal Relations in Child Behaviour & Development Edited by Baker & Others, McGraw Hill Book Company, Inc., New York, 1943. PP.129-145.

(ii) Vaidya N.; Problem Solving in Science,Ibid. PP. 103-104.

92. Oakes M.E.; Children's Explanation of Natural Phenomena, Teachers College,Columbia University, Contribution to Education No. 926, New York,1947.

93. (i) Haung I.; Children's Conception of Physical Causality: A Critical Summary, Journal of Genetic Psychology,63,1943. PP.71-121.

(ii) Hazlitt V.; Children's Thinking,British Journal of Psychology, 87,1930. PP.447-531.

(iii) Isaac Susan, Intellectual Growth in Children, Routledge, London,1930.

(iv) Johnston E.C., and Josey C.C.; Journal of Abnormal and Social Psychology,26,1931. PP. 338-39.

94. King W.H.: The Development of Scientific Concepts in Children, British Journal of Educational Psychology, XXXI, Part I., Feb., 1960. PP.1-20.

95. Bank S.H.; How Pupils in a Secondary Modern School Induce Scientific Principles from Science Experiments, Unpublished Dissertation, Brimingham University,1958.

96. McNeil J.G., & Keisler E.R.; Teaching Scientific Theory to First Grade Pupils by Auto Instruction Device. The Harvard Education Review, Volume 31, 1961 PP.72-83.

97. Navarra J.G.; The Development of Scientific Concept in a Young Child, Bureau of Publications Teachers College, Columbia University, New York.

98. Heidbreder E.; Problem Solving in Children & Adults, Journal of Genetic Psychology, Volume 35, 1928.

99. Mumford S.C.; Factors Involved in Problem Solving With Special Reference to the Problem in Insight, Ph.D. Thesis, University of London, Senate House, London, 1937.

100. Bloom and Broader; Problem Solving Processes of College Students, University of Chicago Press, Chicago, 1950.

101. Durkin H.E.; Trial & Error, Gradual Analysis & Sudden Reorganization, an Experimental Study of Problem Solving Arch Psychology, Volume 30; New York, 1930.

102. Peel E.A.; Psychology and the Teaching of Science, British Journal of Educational Psychology, Nov., 1955.

103,104, 105. (i)Quoted in Research on Science Teaching in the Handbook of Research Teaching Methods, American Educational Research Association, Rand McNally & Co., Chicago, 1963.

(ii)Vaidya N.; Problem Solving in Science, Ibid.

(iii)Vaidya N.; Some Aspects of Piaget's Work & Science Teaching, Ibid.

106. Lahti M.; The Inductive Deductive Method & the Physical Science Laboratory, Journal of Experimental Education, 1956. PP.149-63.

107. H.Kruglak has written profusely in this area. See his papers on Some Behaviour Objectives of Laboratory Instruction in Elementary College Physics, Achievement of Physics Students with and without Laboratory Work of Evaluating Laboratory Instruction by use of Objective Type Tests which have appeared in the American Journal of Physics, issues being 1952, 1953, 1954 and 1958.

108. Muthulingam; An Investigation of Certain Factors in the Physical Science Course of Secondary Schools in Relation to Aspects of the Achievements, Attitudes and Interests of Fifth Year Pupils, M.A. Thesis, Institute of Education, London, 1963.

109. Charren George; The Effects Often Ended Experiments in Chemistry on the Achievement of Certain Objectives of Science Teaching in Child Behaviour of Development Edited by R.G.Barker, Ibid.

110. Butta D.P.; The Degree to which Children's Conceptualize From Science Experience in Child Behaviour & Development by R.G.Barker, Ibid.

111. (i) Szekely L.; Acta Psychology, See Chapters on Knowledge and Thinking and Productive Processes in Learning & Thinking, Volume 7; Mellan Publishing Company, Amsterdam, 1950. PP.1-24 & 338-407.

(ii) Maltzman I., Eisman E., & Brooks L.O.; Some Relationships Between Methods of Instruction. Personality Variables, and Problem Solving Behaviour, Journal of Educational Psychology, 47, 1956. PP.71-78.

112. Kyle T.; An Investigation of the Thought-Processes of a Group of 14 Year Olds During the Solving of a Scientific Problem, B.Ed. Thesis, Glasgow, 1950.

113. Whellock R.B.; An Inquiry into How Far Scientific Method is Gained from Scientific Education; M.A. Thesis, Institute of Education, London, 1953.

114. Mealings R.J.; Some Aspects of Problem Solving in Science, M.A. Thesis, University of Birmingham, Oct., 1961.

115. Quoted from Science Education, October, 1961. PP. 313-20.

116. (i) Jacobson Willard J.; Science Education and the Development of Abilities to Cope With Problematic Life Situations, Science Education, April,1953. PP.172-182.

(ii) Also see two of his other papers on Science for the Early Adolescent, & Helping Young People to Deal with Their Problems in School Science and Mathematics(May,1962); & Educational Forum (Jan.1953).

117. See the two papers on Psychology of the Mastery & Application by School Children of Some Concepts in School by E.A.Fleshner & R.G. Natadza in Educational Psychology in the U.S.S.R. Edited by Brian & Joan Simon, Routledge & Kegan Paul, London, 1963.

118. Stendler Gelia B.; Cognitive Development in Children and Readiness for High School Physics, The American Journal of Physics, December, 1961.

119. Vaidya N.;A Study of Problem Solving in Science among Certain Groups of Adolescent Pupils, Ibid.

120. (i) Luxmi Vijaya; A Study of Some Bakcward Pupils With Special Reference to the Schema of Combinatorial Grouping, M.Ed. Report, Kurukshetra University, Kurukshetra,1965.

(ii) Luxmi Vijaya: and Vaidya N.; A Study of Some Backward Pupils With Special Reference to the Schema of Combinatorial Grouping, Vigyan Shikshak, New Delhi, Oct.-Dec.,1966.

121. Sayal K.R., & Vaidya N.; A Study of Problem Solving in Arithmetic Among Certain Groups of Adolescent Pupils, The Rajasthan Board Journal of Education, Ajmer April,1966.

122. Tannenbaum Robert S.; The Development of the Test of Science Processes, Journal of Research in Science Teaching, volume 8, Issue 2, 1971. PP. 123-126.

123. (i) Misra Rajendra Mohan: The Role of Hypotheses in Problem Solving, M.Ed. Thesis, Rajasthan University, Jaipur, 1973.

(ii) Misra R.M.& Vaidya N.; The Role of Hypotheses in Solving Problems of Science, The Rajasthan Board Journal of Education, Ajmer, April, 1976.

124. Renner John W., & Dawson Aton E.; Promoting the Intellectual Development Through Science Teaching, The Physics Teacher. Volume 11, No.5, May, 1973, PP. 273-76.

Also see another article on Piagetian Theory & Instruction in Physics by Renner & Lawson in the Physics Teacher, March, 1973.

125. Bastian Sharon & Others; Are ISU Freshmen Students Operating at a Formal Level in Thought Processes(A Pilot Study), Contemporary Education, ISU, Terre Haute, Indiana, Special Issue on Earth Science. Programmes & Trends, 1973. PP.358-62.

126. Kohlberg Lawrence & Gilligan Carol, Daedaulus 100, 1051, Fall 1971.

127. Archenhold W.F.; A Study of the Understanding by Sixth Former Students of the Concept of Potential in Physics, M.Ed. Thesis, Deptt. of Education, University of Leeds, Leeds, 1975.

128. Quoted from an Abstract Supplied by Piyush Swami, Research Fellow, Ohio University, Ohio, 1974. Source Unacknowledged.

129. Quoted from Problem Solving Methods in Science Teaching, A Science Manpower Project Monograph, Bureau of Publications, Teachers College. Columbia University, 1960.

130. Gupta Ram Krishan; An Attempt to Construct and Standardize Tests in General Science, M.A. Thesis, Institute of Education, London, 1956.

131. Schwab Joseph J., Enquiry, The Science Teacher and the Educator, the Science Teacher, October 1960. PP. 6-11.

132. (i) Suchman J.Richard; The Illinois Studies in Inquiry Training, Journal of Research in Science Teaching, Volume 2,1964.PP.230-32.

(ii) Quoted from Inquiry Method: Three Interpretation -s by Alphoretta Fish & Bernice Goldmark in Readings in Science Education for the Secondary School Edited by Hans O.Anderson, The Macmillan Company, New York, Collier-MacMillan Limited London, 1969.PP.192-198.

(iii) Also see the Science Teacher, Feb.,1966. PP.13-15.

133. Woodburn John H.; Discover & Describe,The Science Teacher, Dec., 1971. PP.38-42.

134. (i) Olton Robert M.,& Others; The Development of Productive Thinking Skills in Fifth Grade Children, Centre for Cognitive Learning. The University of Wisconsin, Madison, Wisconsin, Technical Report 34,Nov.,1967. Also see the following:

(a) Covington M.V.; & Crutchfield R.S.,&Davies L.B.; The Productive Thinking Program, Series One: General Problem Solving, Brazelton Printing Company, Berkeley, California,1966.

(b) Covington M.V.& Crutchfield R.S.;Experiments in the Use of Programmed Instruction for the Facilitation of Problem Solving, Programmed Instruction,4, 1965. PP.3-10.

135. Quinn Mary Ellen; Hypotheses Formation Can Be Taught,The Science Teacher, Sept.,1972. PP. 30-31.

136. Anderson Richard C.; Can First Graders Learn Advanced Problem Solving Skill, Journal of Educational Psychology,Volume 56, 1965. PP. 283-294.

137. Strope Marvin B., & Braswel A.L.; A Comparison of Factual Teaching & Conceptual Teaching in Introductory College Astronomy, Journal of Research in Science Teaching Volume 4. Issue 2, 1966.

138. Dietz Maureen A., & Kenneth George D.; A Test to Measure Problem Solving Skills in Science of Children in Grades One, Two & Three, Journal of Research in Science Teaching,7, 1970. PP. 341-51.

139. Butts David P., & Howard L. Jones: Inquiry Training & Problem Solving in Elementary School Children, Journal of Research in Science Teaching, Volume 4, Issue 1,1966. PP.21-27.

140. Yaget Robert E., & Wick John W.; Three Emphases in Teaching Biology- A Statistical Comparison of Results, Journal of Research in Science Teaching, Volume 4, Issue 1, 1966. PP. 16-20.

141. (i) Quoted from Educational Psychology: A Cognitive View, Holt Rinehart & Winston; Inc., New York etc., 1968. PP.462-562.

(ii) Shulman Lee S.; Psychology & Mathematics Education, Reprinted for Private Circulation from the Sixty-ninth Year Book of the NSSE, Part I. PP. 45-46.

142. (i) Ausubel David P.; Educational Psychology: A Cognitive View, Ibid. PP.462-562.

(ii) Ausubel David P.; Some Psychological & Educational Limitations of Learning by Discovery, The New York State Mathematics Teachers Journal, XIII, June, 1963. PP. 90-108.

143. (i) Biber B.; A Learning-teaching Paradigm Integrating Intellectual and Affective Process in Behavioural Science Frontiers in Education, John Wiley & Sons,New York, 1967.

(ii) Quoted from Early Childhood Education for What Goals? By Milton J.E.Sen in Understanding the Young Child & His Curriculum, The MacMillan Company, New York, Collier-MacMillan Limited London, 1972.PP.5-14.

144. Jennings F.G.;Jean Piaget: Notes on Learning, Saturday Review, May 20,1967.Page 82, Attributed to Piaget.

145. Joshi J.N.; The Development of Algebraic Concepts During Secondary School Years, Ph.D.Thesis, Punjab University,Chandigarh, 1970.

146. Smith Gary R.; Analysing Test Responses with Symbolic Logic, Journal of Research in Science Teaching, volume 4,Issue 1,1966. PP. 52-62.

147. (i) Hebb D.O.; The American Revolution, The American Psychologist, 15, 1960.PP.735-45.

(ii) Rao N.C.S.; Strategies in Concept Learning, Indian International Publications, Allahabad, 1971.

148. Vaidya N.; The Growth of Logical Thinking, an Extension Lecture Delivered at the Department of Education,Kurukshetra University, Kurukshetra, Jan.,8,1977.

149. Vaidya N.; The Growth of Logical Thinking in Science During Adolescence, Oxford &IBH Publishing Co., New Delhi, 1979.

150. Vaidya N.; & Rajput J.S.; Reshaping our School Science Education, Oxford & IBH Publishing Co., New Delhi,1977.

.....